विवेक-ज्योति

वर्ष ४२ अंक १ जनवरी २००४ मूल्य रु. ६.००
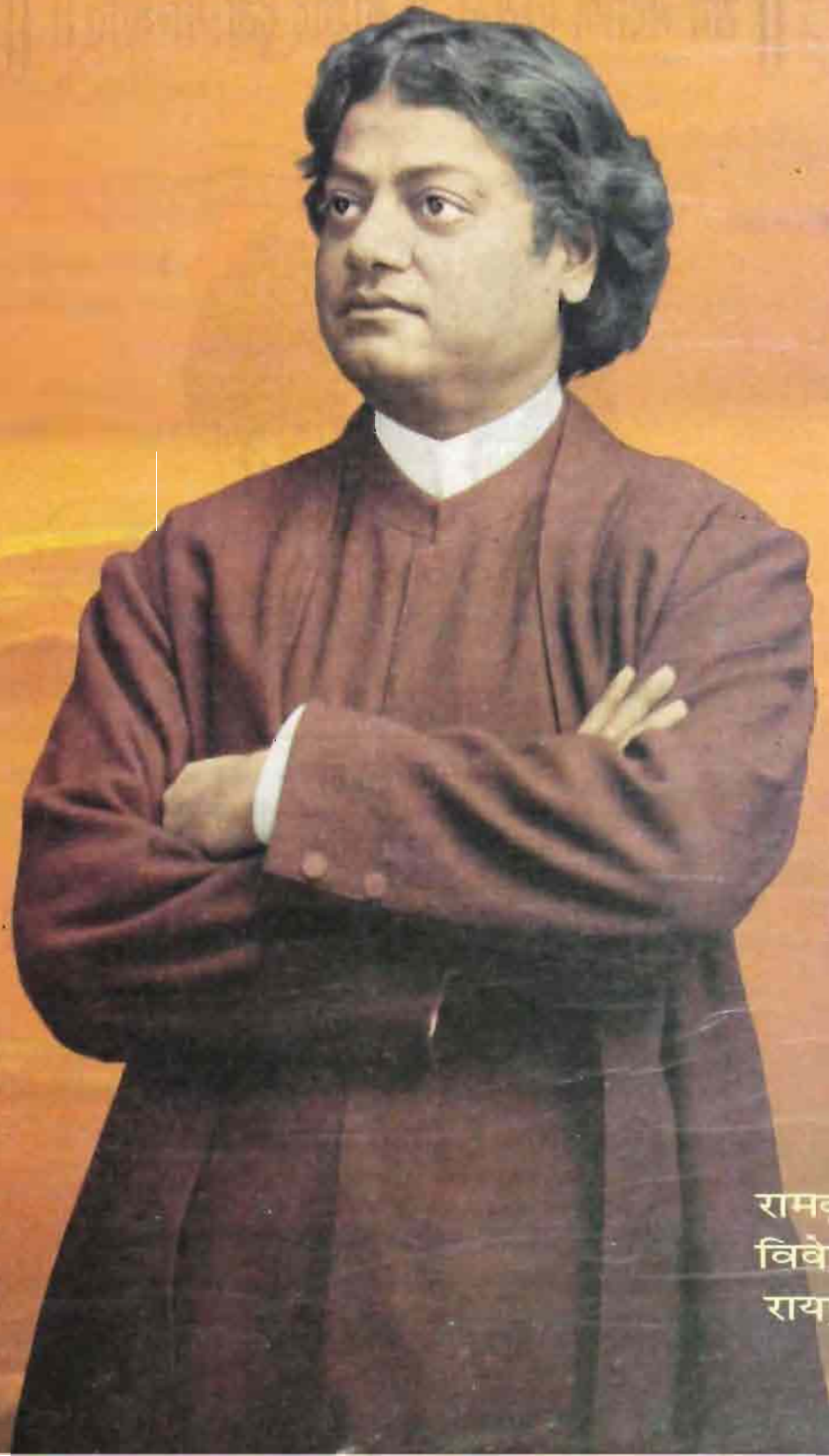
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (छ.ग.)

मंगल कामना

|| सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया: ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुख:भाग्भवेत् ।। ||
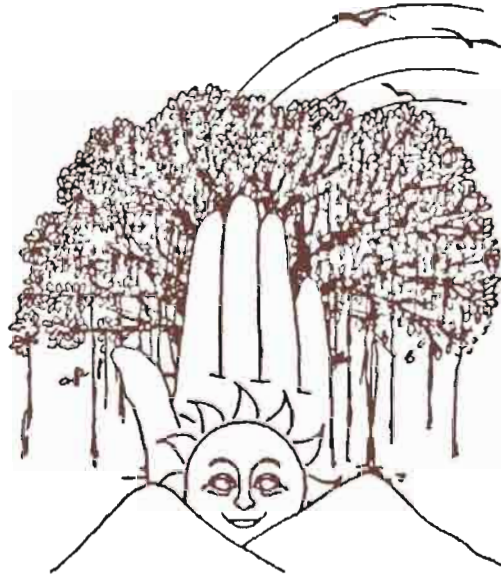
सब सुखी हों।

सब रोगरहित हों।

सब कल्याण का साक्षात्कार करें।

दु:ख का अंश किसी को भी प्राप्त न हो।

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जनवरी २००४

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४२
अंक १

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए – रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२२५२६९, ५०३६९५९, २२२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

विवेक-ज्योति के प्रचार हेतु अनुरोध

प्रिय मित्र,

युगावतार श्रीरामकृष्ण तथा आचार्य स्वामी विवेकानन्द के आविर्भाव से विश्व-इतिहास के एक अभिनव युग का सूत्रपात हुआ है। इसके फलस्वरूप पिछली एक शताब्दी के दौरान भारतीय जनजीवन की प्रत्येक विधा में एक नवजीवन का सचार हुआ दीख पड़ता है। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद, शकराचार्य, चैतन्य, नानक तथा रामकृष्ण-विवेकानन्द - ऐसी कालजयी विभूतियों का जीवन तथा कार्य अल्पकालिक होते हुए भी, प्रभाव की दृष्टि से चिरस्थायी होते हैं और सहस्रों वर्षों तक कोटि-कोटि लोगों की आस्था, श्रद्धा तथा प्रेरणा का केन्द्र-बिन्दु बनकर विश्व का असीम कल्याण साधित करते हैं। सम्भवतः आपका ध्यान इस ओर गया हो कि इन दो विभूतियों से निःसृत भावधारा दिन-पर-दिन उत्तरोत्तर व्यापक होती हुई, न केवल पूरे भारतवर्ष, अपितु सम्पूर्ण जगद्वासियों के बीच पारस्परिक सद्भाव को अनुप्राणित कर रही है।

भारत की सनातन वैदिक परम्परा, मध्यकालीन हिन्दू सस्कृति तथा श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द के सर्वग्राही तथा उदार सन्देश का प्रचार-प्रसार करने के निमित्त स्वामीजी के जन्म-शताब्दी वर्ष १९६३ ई. से इस पत्रिका को त्रैमासिक रूप में आरम्भ किया गया था। तब से ३६ वर्षों की सुदीर्घ अवधि तक उसी रूप में और पिछले ५ वर्षों से मासिक के रूप में अबाध रूप से प्रज्वलित रहकर यह 'ज्योति' भारत के कोने-कोने में बिखरे अपने सहस्रों प्रेमियों का हृदय आलोकित करती रही है।

आज के सक्रमण-काल में, जब असहिष्णुता तथा कट्टरतावाद की आसुरी शक्तियाँ सुरसा के समान अपने मुख फैलाए पूरी विश्व-सभ्यता को निगल जाने के लिए आतुर हैं, इस 'युगधर्म' के प्रचार रूपी पुण्यकार्य में सहयोगी होकर इसे घर-घर पहुँचाने में क्या आप भी हमारा हाथ नहीं बँटाएँगे? आपसे हमारा हार्दिक अनुरोध है कि कम-से-कम पाँच नये सदस्यों को 'विवेक-ज्योति' परिवार में सम्मिलित कराने का संकल्प आप अवश्य लें। इसका वार्षिक शुल्क अत्यल्प - मात्र रु. ५०/- ; ५ वर्षों के लिए रु. २२५/- और आजीवन (२५ वर्षों के लिए) रु. १०००/- मात्र है। अपने मित्रों, परिचितों, प्रियजनों तथा सम्बन्धियों से इस वर्ष के लिए सदस्यता-शुल्क एकत्र करके या अपनी ओर से उपहार के रूप में उनके पतों के साथ हमें अवश्य भेज दें।

— व्यवस्थापक, 'विवेक-ज्योति' मासिक
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर - ४९२ ००१ (छ.ग.)

प्रकाशन विषयक विवरण

(फार्म ४ नियम ८ के अनुसार)

१. प्रकाशन का स्थान - रायपुर
२. प्रकाशन की नियतकालिकता - मासिक
३-४. मुद्रक एवं प्रकाशक - स्वामी सत्यरूपानन्द
५. सम्पादक - स्वामी विदेहात्मानन्द
राष्ट्रीयता - भारतीय
पता - रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर
स्वत्वाधिकारी - रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ के ट्रस्टीगण -

स्वामी रंगनाथानन्द, स्वामी गहनानन्द, स्वामी आत्मस्थानन्द, स्वामी गीतानन्द, स्वामी स्मरणानन्द, स्वामी शिवमयानन्द, स्वामी भजनानन्द, स्वामी सुहितानन्द, स्वामी श्रीकरानन्द, स्वामी प्रमेयानन्द, स्वामी वन्दनानन्द, स्वामी प्रभानन्द, स्वामी गौतमानन्द, स्वामी मुमुक्षानन्द, स्वामी वागीशानन्द, स्वामी तत्त्वबोधानन्द, स्वामी आत्मारामानन्द।

मैं स्वामी सत्यरूपानन्द घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य हैं।

(हस्ताक्षर)
स्वामी सत्यरूपानन्द

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि पिछले किसी अंक से बनना हो, तो उसका उल्लेख करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें – 'नया सदस्य'।

(३) अपनी पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही उसका नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उससे पहले प्राप्त शिकायतों पर ध्यान नहीं दिया जायेगा। अंक उपलब्ध होने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ५/- रुपयों का अतिरिक्त खर्च वहन करके इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमारे कार्यालय को न भेजें।

(६) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी हेतु 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

SRI RAMAKRISHNA ASHRAMA, YADAVAGIRI, MYSORE

Sri Ma Sarada Darshan

A humble offering in the form of an exhbition to commemorate the 150th Birth Anniversary of Holy Mother Sri Sarada Devi!

'Without Shakti (Power) there is no regeneration for the world. Mother has been born to revive that wonderful Shakti in India.'

-Swami Vivekananda

BROAD OUTLINE:

Obtain a Set of 40 Nos. beautiful Multi-Coloured 19" x 29" Posters, depicting the life and message of the Holy Mother printed on thick Card Sheet, Mounted on Plastic Flute Board and Framed
- For **Just Rs.1000/-** Conduct Exhibitions in your institutions/areas and be blessed by spreading the Holy Message.

LANGUAGES AVAILABLE: English, Kannada, Bengali, Tamil, Telugu, Malayalam, Hindi, Marathi, Gujarati, Oriya, and Assamese.

ELIGIBILITY: Any Organization or individual willing to conduct Exhibitions is eligible.

WRITE IMMEDIATELY: If you are willing to conduct exhibitions and send a minimum amount of Rs.1000/- [Per Kit inclusive of transport] by Crossed Bank Draft in favour of **'Sri Ramakrishna Ashrama, Mysore'**.

GIVE YOUR FULL POSTAL ADDRESS INCLUDING PIN CODE NO. & CONTACT TELEPHONE NUMBER AND LANGUAGE PREFERRED.

LAST DATE: 15.01.2004 **KITS WILL BE DESPATCHED IN APRIL 2004**

APPEAL

PRODUCTION COST OF EACH KIT IS RS. 2,200/-, WE PLAN TO PRODUCE 1000 KITS IN ALL. THUS THE TOTAL EXPENDITURE IS RS 22.00 LAKHS. Please Donate Liberally to this Massive Project and Get the Blessings of the Holy Mother. Donations however small are welcome.

Donations are exempt from payment of income Tax under Sec.80-G of I.T.Act

Please write to:

Sri Ramakrishna Ashrama
(Sri Ma Sarada Darshan Dept.)
Yadavagiri, Mysore 570-020

श्रीरामकृष्ण के दृष्टान्त – १५

रेखांकन – स्वामी आप्तानन्द

"आदेश न मिलने पर 'मैं लोगों को शिक्षा दे रहा हूँ' – ऐसा अहंकार होता है। अज्ञान से ऐसा लगता है कि मै कर्ता हूँ। यह बोध हो जाने पर कि ईश्वर ही कर्ता हैं, ईश्वर सब कुछ कर रहे हैं, मै कुछ नहीं कर रहा हूँ – व्यक्ति जीवन्मुक्त हो गया। 'मैं कर्ता हूँ' – इस बोध के कारण ही इतना दुःख, इतनी अशान्ति पैदा होती है।

"गुरु एकमात्र सच्चिदानन्द ही हैं। वे ही सब को शिक्षा देंगे। वैसे मनुष्य-गुरु तो लाखों मिलते हैं। सभी गुरु बनना चाहते हैं। शिष्य कौन बनना चाहता है?

"लोक-शिक्षा देना बड़ा कठिन है। यदि ईश्वर का दर्शन और आदेश मिले, तो यह सम्भव हो सकता है। नारद, शुकदेव आदि को आदेश हुआ था, शंकराचार्य को आदेश हुआ था। आदेश न मिलने से तुम्हारी बात कौन सुनेगा? ... पर आदेश मिला है यह केवल मन में सोच लेने से नहीं चलता। ईश्वर सचमुच दर्शन देते और बातचीत करते हैं। इसी अवस्था में आदेश मिल सकता है। इस प्रकार आदेशप्राप्त व्यक्ति की बातों में कितना जोर होता है! पर्वत भी टल जाता है। सिर्फ लेक्चर से क्या होगा? लोग कुछ दिन सुनेंगे, फिर भूल जाएँगे; उसके अनुसार चलेंगे नहीं।

"उस ओर हालदारपुकुर नाम का एक तालाब है। कुछ लोग उसके किनारे रोज सबेरे शौच-जाया करते थे। जो लोग सबेरे स्नानादि के लिए आते, वे यह देखकर उनके नाम से खूब चिल्लाते, खूब कोसते। पर दूसरे दिन फिर वही हाल! शौच जाना बन्द ही नहीं होता था। तब लोगों ने कम्पनी को सूचित किया। कम्पनीवालों ने एक चपरासी भेजा। जब उस चपरासी ने आकर एक कागज चिपका दिया – 'यहाँ शौच करना मना है' – तब सब बन्द हो गया।

"लोक-शिक्षा देनी हो तो चपरास चाहिए। खुद को ही नहीं मिली, दूसरों को देने चला। एक अन्धा दूसरे अन्धे को राह बताते ले जाना। इससे हित होने के बजाय विपरीत ही होता है। ईश्वर-लाभ होने पर अन्तर्दृष्टि मिलती है, तभी समझ में आता है कि किसे कौन-सा रोग है और उचित उपदेश दिया जा सकता है।"

नीति-शतकम्

स्थाल्यां वैदूर्यमय्यां पचति तिलकणांश्चान्दनैरिन्धनौघैः
सौवर्णैर्लाङ्गलाग्रैर्विलिखति वसुधामर्कमूलस्य हेतोः ।
कृत्वा कर्पूरखण्डान् वृतिमिह कुरुते कोद्रवाणां समन्तात्
प्राप्येमां कर्मभूमिं न चरति मनुजो यस्तपो मन्दभाग्यः ।।१००।।

अन्वयः - यः मन्दभाग्यः मनुजः इमां कर्मभूमिं प्राप्य तपः न चरति इह वैदूर्यमय्यां स्थाल्यां चान्दनैः इन्धनौघैः तिल-कणान् पचति, अर्कमूलस्य हेतोः सौवर्णैः लाङ्गलाग्रैः वसुधा विलिखति कर्पूरखण्डान् कृत्वा समन्तात् कोद्रवाणां वृत्तिं कुरुते ।

भावार्थ – जो अभागा व्यक्ति इस (भारतवर्ष रूपी) कर्मभूमि में जन्म प्राप्त करके भी तपस्या नहीं करता, वह मानो वैदूर्य मणि से खचित बर्तन में चन्दन की लकड़ी जलाकर कुछ तिल के दानों को पका रहा है, मानो आक की जड़ों को प्राप्त करने के लिए सोने के फालवाला हल चला रहा है, और मानो कपूर-वृक्ष की डालों को काटकर कोदो के खेत के चारों ओर बाड़ लगाता है ।

मज्जत्वम्भसि पातु मेरुशिखरं शत्रूञ्जयत्वाहवे
वाणिज्यं कृषिसेवने च सकला विद्याः कलाः शिक्षताम् ।
आकाशं विपुलं प्रयातु खगवत् कृत्वा प्रयत्नं परं
नाभाव्यं भवतीह कर्मवशतो भाव्यस्य नाशः कुतः ।।१०१।।

अन्वयः - अम्भसि मज्जतु, मेरुशिखरं यातु, आहवे शत्रून् जयतु, वाणिज्यम् कृषिसेवने सकलाः विद्याः कलाः च शिक्षताम्, परं प्रयत्नं कृत्वा खगवत् विपुलम् आकाशं प्रयातु, इह कर्मवशतः अभाव्यं न भवति तथा भाव्यस्य नाशः कुतः?

भावार्थ – व्यक्ति चाहे जल में डूब जाय, या मेरु पर्वत की चोटी पर चला जाय, चाहे युद्ध में शत्रुओं को जीत ले, या व्यापार तथा खेती करे और सभी विद्याओं तथा कलाओं को सीख ले और चाहे तो बहुत प्रयत्न करके पक्षी की भाँति विपुल आकाश में उड़ जाय, पर इस संसार में जो नहीं होनेवाला है वह नहीं होता और जो कर्मवश होनेवाला है, उसका कोई नाश नहीं कर सकता ।

– भर्तृहरि

विवेकानन्द-स्तुति

– १ –

(भैरवी–रूपक)

(तर्ज – श्रीरामचन्द्र कृपालु भज मन..)

स्वामी विवेकानन्द की, महिमा अगम्य अपार है।
उनके अलौकिक ज्ञान से, विस्मित सकल संसार है ।।

फैला हुआ था जब अँधेरा, घोर भारत देश में,
तब सूर्यसम सहसा प्रकट हो, दीप्त गैरिक वेश में,
सबको जगाया मंत्र देकर, कर दिया उद्धार है ।।

पाश्चात्य जग संघर्षरत था, जड़ सुखों की चाह में,
दुख-दर्द के काँटे बिछे थे, किन्तु उनकी राह में;
सन्देश दे एकत्व का, पल में हरा भू-भार है ।।

तुम इस विषम संसार में, ले जन्म युगनायक हुए,
वह लौह भी कांचन हुआ, जिसने तुम्हारे पद छुए;
यह सीख हमको दे गए, त्याग और सेवा सार है ।।

– २ –

(बागेश्री या मारु-विहाग–एकताल)

जय विवेक-आनन्द, जय जन-हितकारी,
मोह-अन्धकार-त्रास, दूर करो सारी।।

गौरव से उन्नत सिर, तुम नरेन्द्र आए फिर,
काया पर गैरिक चिर, अग्नि-सदृश धारी ।।

दुर्गतिमय भारत जब, हैं निराश जन-मन सब,
आशा पा तुममें अब, प्रमुदित नर-नारी ।।

जाति-धर्म-भेद हरो, जग में आलोक करो,
अब 'विदेह' प्राण भरो, करुणा-संचारी ।।

– *विदेह*

ईश्वर की आवश्यकता

स्वामी विवेकानन्द

समग्र प्रकृति ही ईश्वर की उपासना है। जहाँ कहीं जीवन है, वहीं मुक्ति की खोज है और वह मुक्ति ही ईश्वर-स्वरूप है।

दर्शन-शास्त्र का चाहे जो विचार हो, तत्त्वज्ञान का चाहे जो कहना हो, पर जब तक इस लोक में मृत्यु नाम की वस्तु है, जब तक मानव-हृदय में दुर्बलता जैसी वस्तु है, जब तक मनुष्य के हृदय से दुर्बलताजनित करुण क्रन्दन निकलता है, तब तक इस संसार में ईश्वर पर विश्वास भी कायम रहेगा।

हिन्दू शब्दों और सिद्धान्तों में जीना नहीं चाहता। यदि इन साधारण इन्द्रिय-ग्राह्य विषयों के परे और भी कोई अस्तित्व है, तो वह उनका प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहता है। यदि उसमें जड़ पदार्थ के अतिरिक्त कोई आत्मा है, यदि कोई दयामय सर्वव्यापी विश्वात्मा है, तो वह उसका साक्षात्कार करेगा। वह उसे अवश्य देखेगा और मात्र उसी से उसकी समस्त शंकाएँ दूर होंगी। अत: आत्मा के विषय में, ईश्वर के विषय में हिन्दू ऋषि यही सर्वोत्तम प्रमाण देता है – "मैंने आत्मा को देखा है; मैंने ईश्वर का दर्शन किया है।"

ईसा मसीह के ये शब्द स्मरण रहें, "माँगो और तुम्हें दिया जायगा; ढूँढ़ो और पाओगे; खटखटाओ और दरवाजा तुम्हारे लिए खुल जायगा।" ये शब्द आलंकारिक या काल्पनिक नहीं, बिल्कुल सत्य हैं। ये शब्द इस पृथ्वी पर आनेवाले परमेश्वर के महानतम पुत्रों में से एक के हृदय के रक्त के समान बह निकले थे। ये शब्द एक ऐसे व्यक्ति की अनुभूति के फलस्वरूप निकले हैं, जिसने परमेश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव किया था, उसका प्रत्यक्ष स्पर्श किया था, उसके साथ निवास किया था, उसके साथ बातचीत की थी और वह भी साधारण रूप से नहीं, बल्कि जैसे हम इस दीवार को देख रहे हैं, उससे भी सैकड़ों-गुना अधिक प्रत्यक्ष रूप से।

जिससे सभी प्राणी प्रकट हुए हैं, जिसमें सभी स्थित हैं और जिसमें सब विलीन होंगे, वही ईश्वर है।

यदि समरूपता विश्व का नियम है, तो इसका प्रत्येक अंश उसी नियम के अनुसार निर्मित होना चाहिए, जिसके अनुसार पूर्ण विश्व बना है। इसलिए हमारा यह सोचना स्वाभाविक है कि विश्व कहे जानेवाले इस स्थूल भौतिक रूप के पीछे एक सूक्ष्मतर तत्त्वों का विश्व अवश्य होगा, जिसे हम विचार कहते हैं और उसके पीछे एक 'आत्मा' होगी, जो इस समस्त विचार को सम्भव बनाती है, जो आज्ञा देती है और जो इस विश्व की सिंहासनारूढ़ राज्ञी है। वह आत्मा, जो प्रत्येक मन और शरीर के पीछे है, 'प्रत्यगात्मा' या व्यक्तिगत आत्मा कहलाती है और जो विश्व के पीछे रहकर इसका पथप्रदर्शन, नियंत्रण तथा शासन करती है, वह 'ईश्वर' कहलाती है।

जन्म लेते ही बच्चा नियम के विरुद्ध विद्रोह करने लगता है। उसकी पहली आवाज रुदन की होती है, जो अपने बन्धनों के प्रति उसका विरोध है। स्वाधीनता की यह आकांक्षा ही एक पूर्ण स्वतंत्र सत्ता का भाव व्यक्त करती है। ईश्वर की धारणा मानव-प्रकृति का एक मूल उपादान है। वेदान्त के अनुसार मानव-मन की सर्वोच्च ईश्वर-धारणा सत्-चित्-आनन्द है। वह स्वभाव से ही ज्ञानमय तथा आनन्दमय है।

हम लोग संसार से होकर ऐसे भागे जा रहे हैं मानो कोई सिपाही हमारा पीछा कर रहा हो और इस कारण हम जगत् के सौन्दर्य का लेश मात्र ही देख पाते हैं। जो समस्त भय हमारा पीछा करते हैं, वह जड़ को सत्य मान बैठने के कारण ही है। पीछे मनस्तत्त्व होने के कारण ही जड़ पदार्थ के अस्तित्व का बोध होता है। हम जो कुछ देखते हैं, वह प्रकृति के माध्यम से व्यक्त हो रहा ईश्वर ही है।

ईश्वर स्थिर है और अपने महिमामय तथा अपरिवर्तनशील स्वरूप पर प्रतिष्ठित है। तुम और हम उसके साथ एक होने की चेष्टा करते हैं, परन्तु इधर बन्धन की कारणीभूत प्रकृति पर, दैनन्दिन जीवन की छोटी छोटी बातों – धन, नाम, यश, मानव-प्रेम आदि प्राकृतिक विषयों पर निर्भर होते हैं।

यह जो समग्र प्रकृति प्रकाशित हो रही है, इसका प्रकाश किस पर निर्भर है? सूर्य, चन्द्र, तारों पर नहीं, अपितु ईश्वर पर। जहाँ कहीं कुछ प्रकाशित होता है, चाहे वह सूर्य का प्रकाश हो या हमारी चेतना का, वहाँ उसी का प्रकाश होता है; उसके प्रकाश से ही सब कुछ प्रकाशित होता है।

मैंने इतनी तपस्या करके यही सार समझा है कि **हर जीव में वे ही विराजित हैं; इसके सिवा ईश्वर और कुछ भी नहीं। जीवों पर दया ही ईश्वर की सेवा है।**

छोटे-बड़े सभी जीव ईश्वर की समान रूप से अभिव्यक्तियाँ हैं, भेद केवल अभिव्यक्तियों में है।

ईश्वर चराचर विश्व की समष्टि है। तो क्या ईश्वर जड़ है? कदापि नहीं। पाँचों इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य ईश्वर को ही जड़ कहते हैं; बुद्धि के द्वारा ग्राह्य ईश्वर मन है; और जब आत्मा उसका साक्षात्कार करती है, तो वह आत्मा के रूप में ही दिखता है। वह जड़ नहीं, अपितु जड़ में निहित यथार्थ सार-तत्त्व है।
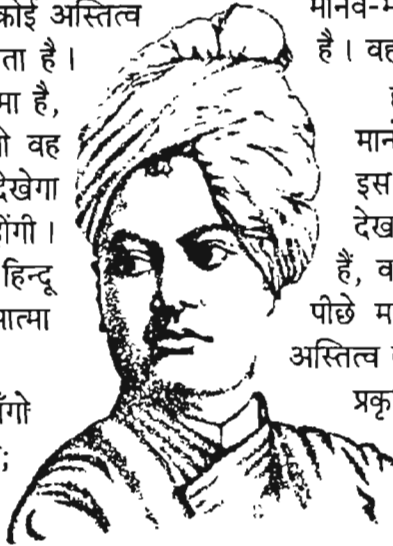
हमारे शास्त्रों में परमात्मा के दो रूप कहे गये हैं – सगुण और निर्गुण। सगुण ईश्वर के रूप में वह सर्वव्यापी है; संसार की सृष्टि-स्थिति व प्रलय का कर्ता है; संसार का अनादि पिता और माता है; उसके साथ हमारा चिर भेद है और मुक्ति का अर्थ – उसका सामीप्य और उसी में निवास है। परन्तु सगुण ब्रह्म के ये सारे विशेषण अनावश्यक और अतार्किक मानकर , निर्गुण ब्रह्म से निकाल दिये गये। उस निर्गुण तथा सर्वव्यापी ब्रह्म को ज्ञानी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि ज्ञान मानव-मन का धर्म है। वह चिन्तक नहीं कहा जा सकता; क्योंकि चिन्तन दुर्बल जीवों के ज्ञानलाभ का उपाय मात्र है। वह विचारक नहीं कहला सकता; क्योंकि विचार भी ससीम है और दुर्बलता का चिह्न मात्र है। वह सृष्टिकर्ता भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि जो बन्धन में है वही सृष्टि में प्रवृत्त होता है। उसका बन्धन ही क्या हो सकता है? सभी इच्छा-कामनाओं की पूर्ति के लिए ही कर्म करते हैं। और उसे क्या कामना हो सकती है? वेदों में उसके लिए पुल्लिंग (स:) नहीं, बल्कि नपुंसक-लिंग (तत्) का प्रयोग किया गया है, क्योंकि 'स:' कहना व्यक्तिगत पार्थक्य का द्योतक होता, मानो ईश्वर कोई पुरुष हो।

सगुण ईश्वर स्वयं अपने लिए उतना ही सत्य है, जितना हम अपने लिए, इससे अधिक नहीं। ईश्वर को भी उसी प्रकार साकार भाव में देखा जा सकता है, जैसे हमें देखा जा सकता है। जब तक हम मनुष्य हैं, तब तक हमें ईश्वर की जरूरत है; हम जब स्वयं ब्रह्म-स्वरूप हो जायेंगे, तब फिर हमें ईश्वर की जरूरत नहीं रह जायेगी। इसीलिए श्रीरामकृष्ण उन जगदम्बा को सदा-सर्वदा अपने पास विद्यमान देखते थे – वे उन्हें अपने आसपास की अन्य सभी वस्तुओं की अपेक्षा अधिक सत्य रूप में देखते थे; परन्तु समाधि-अवस्था में उन्हें आत्मा के अतिरिक्त और किसी वस्तु का अनुभव नहीं होता था। सगुण ईश्वर क्रमश: हमारे निकटतर आता जाता है, अन्त में वह मानो गल जाता है, उस समय न 'ईश्वर' रह जाता है, न 'अहं'। सब-कुछ उसी 'आत्मा' में लय हो जाता है।

इस निर्गुणवाद को समझनेवाला जॉन स्टुअर्ट मिल जैसा कोई व्यक्ति कह सकता है कि सगुण ईश्वर असम्भव है और इसे प्रमाणित नही किया जा सकता। मैं इस विषय में उससे सहमत हूँ, तथापि मेरा कहना है कि मानवीय बुद्धि से निर्गुण की जितनी भी धारणा हो पाती है, वही सगुण ईश्वर है; और वस्तुत: निर्गुण की इन विभिन्न धारणाओं के सिवा यह जगत् है ही क्या? वह मानो हमारे सामने रखी एक पुस्तक है और हर व्यक्ति अपनी बुद्धि के अनुसार उसे पढ़ रहा है और हर किसी को अपने लिए स्वयं ही उसका पाठ करना पड़ता है।

वह एकमेवाद्वितीय ब्रह्म ही सब कुछ है। पर ब्रह्म का यह निर्गुण-निरपेक्ष स्वरूप परम सूक्ष्म होने के कारण प्रेम-उपासना के योग्य नहीं। इसीलिए भक्त उपास्य के रूप में उसके सापेक्ष भाव अर्थात् परम नियन्ता ईश्वर को ही चुनता है।

जब हम निर्गुण ब्रह्म को माया के कुहरे में से देखते हैं, तो वही सगुण ब्रह्म या ईश्वर कहलाता है। जब हम उसे पंचेन्द्रियों द्वारा पाने की चेष्टा करते हैं, तो उसे हम सगुण ब्रह्म के रूप में ही देख सकते हैं। तात्पर्य यह कि आत्मा का विषयीकरण (objectification) नहीं हो सकता – आत्मा को दृश्यमान वस्तु नहीं बनाया जा सकता। ज्ञाता स्वयं अपना ज्ञेय कैसे हो सकता है? पर उसका मानो प्रतिबिम्ब पड़ सकता है – चाहो तो, इसे उसका विषयीकरण कह सकते हो। इस प्रतिबिम्ब का सर्वोत्कृष्ट रूप, ज्ञाता को ज्ञेय रूप में लाने का महत्तम प्रयास – यही सगुण ब्रह्म या ईश्वर है।

आत्मा चिर ज्ञाता है और हम निरन्तर उसे ज्ञेय के रूप में ढालने का प्रयत्न कर रहे हैं। इसी संघर्ष से इस जगत्-प्रपंच की सृष्टि हुई है और इसी प्रयत्न से जड़ पदार्थ आदि की उत्पत्ति हुई है। पर ये सब आत्मा के निम्नतम रूप हैं और आत्मा का हमारे लिये सम्भव सर्वोच्च ज्ञेय रूप तो वह है, जिसे हम 'ईश्वर' कहते हैं। विषयीकरण का यह प्रयास हमारे स्वयं अपने स्वरूप के प्रकटीकरण का प्रयास है।

मनुष्य एक असीम वृत्त है, जिसकी परिधि कहीं भी नहीं है, पर जिसका केन्द्र एक स्थान में निश्चित है और परमेश्वर एक ऐसा असीम वृत्त है, जिसकी परिधि कहीं भी नहीं है, परन्तु जिसका केन्द्र सर्वत्र है।

आजकल संसार ईश्वर को छोड़ रहा है, क्योंकि वह संसार के लिए ज्यादा कुछ कर नहीं रहा है। अत: वे कहते हैं – "उससे हमें क्या लाभ है?" क्या हमें केवल एक नगरपालिका के अधिकारी के रूप में ही ईश्वर का 'चिन्तन' करना होगा?

ये सभी प्रतीक और विधियाँ, ये प्रार्थनाएँ और ये तीर्थ-यात्राएँ, ये ग्रंथ, घंटियाँ, मोमबत्तियाँ और पुरोहित – ये सब पूर्व तैयारियाँ मात्र हैं। इनसे मन का मैल दूर हो जाता है। और जब जीव शुद्ध हो जाता है, तो स्वभावत: ही वह पवित्रता-स्वरूप परमात्मा की ओर जाना चाहता है।

हम लोग सदा सुनते आये हैं कि प्रत्येक धर्म विश्वास करने पर बल देता है। हमें आँखें मूँदकर विश्वास करने की शिक्षा मिली है। यह अन्ध-विश्वास सचमुच ही बुरी वस्तु है, इसमें कोई सन्देह नहीं। पर यदि इस अन्धविश्वास का हम विश्लेषण करके देखें, तो ज्ञात होगा कि इसके पीछे एक महान् सत्य है। ... मन को व्यर्थ के तर्कों द्वारा चंचल करने से काम नहीं चलेगा, क्योंकि तर्क से कभी ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। **यह प्रत्यक्ष अनुभूति का विषय है, तर्क का नहीं।**

मुझसे अनेक बार पूछा गया है, "आप क्यों इस पुराने 'ईश्वर' शब्द का उपयोग करते हैं?" तो इसका उत्तर यह है कि हमारे उद्देश्य के लिए यही सर्वोत्तम शब्द है। इससे अच्छा

अन्य कोई शब्द नहीं मिल सकता, क्योंकि मनुष्य की सारी आशाएँ तथा सुख इसी एक शब्द में केन्द्रित हैं। अब इस शब्द को बदलना असम्भव है। इस तरह के शब्द पहले-पहल बड़े बड़े साधु-महात्माओं द्वारा गढ़े गये थे और वे इन शब्दों का तात्पर्य अच्छी तरह समझते थे। धीरे धीरे जब समाज में इन शब्दों का प्रचार होने लगा, तब अज्ञ लोग भी उन शब्दों का प्रयोग करने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि शब्दों की महिमा घटने लगी। स्मरणातीत काल से 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग होता आया है। सर्वव्यापी बुद्धि का भाव तथा जो कुछ महान् और पवित्र है, सब इसी शब्द में निहित है।

यह प्रतिद्वन्दिता, क्रूरता, आतंक और रात-दिन की हृदय-विदारक आहें – यही हमारे संसार का सत्य है। यदि यह ईश्वर की सृष्टि है, तो वह ईश्वर निष्ठुर से भी बदतर है, मनुष्य द्वारा कल्पित किसी भी शैतान से गया-गुजरा है। वेदान्त कहता है कि इस जगत् में यह जो पक्षपात तथा प्रतिद्वन्दिता विद्यमान है, यह ईश्वर का दोष नहीं है। तो फिर इसकी सृष्टि किसने की? स्वयं हमने ही। एक बादल सभी खेतों पर समान रूप से पानी बरसाता रहता है। पर जो खेत अच्छी तरह जोता हुआ है, वही इस वर्षा से लाभ उठाता है। दूसरा खेत, जो जोता नहीं गया, या जिसकी देखरेख नहीं की गयी है, उससे लाभ नहीं उठा सकता। यह बादल का दोष नहीं। ईश्वर की कृपा नित्य और सम है; वैषम्य के कारण हम स्वयं हैं। लेकिन वे जब ऐसा कुछ नहीं करते जिससे यह वैषम्य उत्पन्न हो, तो फिर कोई जन्म से ही सुखी है और दूसरा दुखी, इस वैषम्य का कारण क्या हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि इस जन्म में न सही, पूर्व-जन्म में उन्होंने अवश्य किया होगा, और यह वैषम्य पूर्व-जन्म के कर्मों ही के कारण हुआ है।

हर व्यक्ति के उच्चतम आदर्श को ही ईश्वर कहते हैं। ज्ञानी हो या अज्ञानी, साधु हो या पापी, पुरुष हो या नारी, शिक्षित हो या अशिक्षित – प्रत्येक दशा में मनुष्य का सर्वोच्च आदर्श ही ईश्वर है। सौन्दर्य, उदात्तता और शक्ति के उच्चतम आदर्शों के योग में ही हमें प्रेममय एवं प्रेमास्पद ईश्वर का पूर्णतम भाव मिलता है। स्वभावतः ही ये आदर्श किसी न किसी रूप में प्रत्येक व्यक्ति के मन में विद्यमान रहते हैं। वे मानो हमारे मन के अभिन्न अंग हैं। उन आदर्शों को व्यावहारिक जीवन में परिणत करने के जो सब प्रयत्न हैं, वे ही मानवीय प्रकृति की नानाविध क्रियाओं के रूप में प्रकट होते हैं।

हमारे पास तीन वरदान हैं – प्रथम, मनुष्य देह (मनुष्य का मन ही ईश्वर का निकटतम प्रतिबिम्ब है और हम 'उनकी ही प्रतिमा हैं।') द्वितीय, मुक्त होने के लिए आकांक्षा। तृतीय, गुरु के रूप में एक ऐसे महात्मा की सहायता प्राप्त करना, जो स्वयं इस मोहसागर को पार कर चुके हों। ये तीनों मिल जायँ, तो धन्य भाग्य, तुम अवश्यमेव मुक्त होओगे।

केवल ईश्वर ही सत्य है, बाकी सब कुछ असत्य। ईश्वर के लिए सब कुछ का त्याग कर देना चाहिए। सब असार है, मिथ्या है। ईश्वर – और केवल ईश्वर की ही सेवा करो।

शक्तिशाली बनो, उठो और प्रेमरूपी ईश्वर की खोज करो। यही सर्वोच्च बल है। पवित्रता की शक्ति से श्रेष्ठतर दूसरी कौन-सी शक्ति हो सकती है? प्रेम और पवित्रता ही दुनिया के शासक हैं। ईश्वर का यह प्रेम बलहीनों द्वारा प्राप्य वस्तु नहीं है। अतः शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक – किसी प्रकार से दुर्बल मत बनो।

सारा संसार ही प्रतीक है और उसके पीछे मूल तत्त्वरूप में ईश्वर विराजमान हैं।

आज के पर्वत कल समुद्र थे और कल वहाँ पुनः समुद्र दिखायी देगा। प्रत्येक वस्तु परिवर्तन के आवर्त में पड़ी है; यह सारा विश्व ही परिवर्तनशीलता का एक पिण्ड है। एकमात्र ईश्वर ही ऐसा है, जिसमें परिवर्तन कभी नहीं होता।

ईश्वर अनन्तीकृत मानव है। ऐसा होना भी चाहिए, क्योंकि जब तक हम मनुष्य हैं, हमें मानवीकृत ईश्वर चाहिए।

धर्म और ईश्वर को सत्य मानने के लिए हमें उनका प्रत्यक्ष अनुभव होना चाहिए। स्वयं का अनुभव ही हमें इन बातों की सत्यता सिद्ध करा सकता है – तर्क-वितर्क अथवा अन्य कोई चीज नहीं। प्रत्यक्ष अनुभव ही हमारे विश्वास को चट्टान के समान दृढ़ बना सकता है।

सत्य का स्वरूप ही ऐसा है कि जो कोई उसे देख लेता है, उसे एकदम पूरा विश्वास हो जाता है। सूर्य का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए मशाल की जरूरत नहीं होती। वह तो स्वयं ही प्रकाशमान है।

परमेश्वर के अस्तित्व का प्रमाण क्या है? – साक्षात्कार। प्रत्यक्ष। इस दीवाल के अस्तित्व का प्रमाण यह है कि मैं इसे देखता हूँ। आज से पहले भी जिन लोगों ने ईश्वर को देखना चाहा है, उन सभी ने देखा है। परन्तु यह अनुभूति इन्द्रियों द्वारा होनेवाली अनुभूतियों-जैसी बिल्कुल नहीं है। यह इन्द्रियातीत है, यह परम चेतनामय है।

यह सर्वव्यापी बुद्धि ही ईश्वर है। लोग उसी सर्वव्यापी चैतन्य को प्रभु, भगवान्, ईसा, बुद्ध या ब्रह्म कहते हैं – जड़वादी उसी को ऊर्जा के रूप में देखते हैं तथा अज्ञेयवादी उसी की उस अनन्त अनिर्वचनीय सर्वातीत पदार्थ के रूप में धारणा करते हैं; और हम सब उसी के अंश हैं।

❑❑❑

समय की पाबन्दी

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

मेरे एक मित्र हैं। समय के बड़े पाबन्द हैं। आज एक सफल उद्योगपति हैं। शिक्षक थे। वे अपनी सफलता का श्रेय समय की पाबन्दी को देते हैं। एक बार उन्होंने किसी उच्च अधिकारी से मिलने का समय लिया था। जिस समय उन्हें मिलने जाना था, तब घनघोर वर्षा हो रही थी। स्वाभाविक ही किसी का भी मन कहता कि बाद में मिल लेंगे, अभी ही मिलना उतना जरूरी नहीं है। उन्होंने मन को कोई बहानेबाजी नहीं करने दी और उस भंयकर वर्षा में भीगते हुए वे समय पर ही मिलने के लिए पहुँच गये। अधिकारी को बड़ा ही आश्चर्य हुआ, पर साथ ही उन्हें प्रसन्नता भी हुई कि कम-से-कम एक व्यक्ति तो उन्होंने देखा, जो समय का इतना पाबन्द था। बस, उन्होंने मेरे मित्र का काम तुरन्त कर दिया और तब से वे एक एक करके सफलता के सोपानों पर चढ़ते गये।

समय की पाबन्दी जीवन के सभी क्षेत्रों में काम की है। यदि हम समय पर उठने, सोने, खाने-पीने और अपने काम-काज की आदत डालें, तो हम महानता प्राप्त करने की ओर एक सार्थक कदम उठा सकते हैं। इसके द्वारा अल्प समय में कार्य पूरा करने की क्षमता आती है। संसार में जिन व्यक्तियों ने महानता अर्जित की है, उनमें से अधिकांश का जीवन समय की पाबन्दी की एक सुन्दर गाथा रहा है। महात्मा गाँधी इसके ज्वलन्त उदाहरण रहे हैं। उनकी समय की पाबन्दी के बहुत से किस्से हैं, जो यही दर्शाते हैं कि उन्होंने अपने जीवन की क्रियाओं को कैसे समय के द्वारा नियंत्रित कर लिया था।

प्रत्येक व्यक्ति बड़ा तो बनना चाहता है, पर उसके लिए वह किसी प्रकार की साधना नहीं करना चाहता। छल-बल या धन के जोर पर किसी को बड़प्पन नहीं मिला करता। जो मिला-सा दिखायी देता है, वह बालू की नींव पर बने मकान के समान तनिक से आघात से ढह जाता है। सच्चा बड़प्पन बाधाओं में तपकर और निखरता है। ऐसा बड़प्पन प्राप्त करने का प्रथम सोपान है समय की उपासना।

समय की उपासना हमारे आलस्य और जड़ता को दूर करती है, तमोगुण के आधिक्य को काटती है और बुद्धि को सतेज बनाती है। बहुधा देखा जाता है कि यदि समय पर काम न हो, तो काम टल जाता है और हम दीर्घसूत्रता के शिकार हो जाते हैं। कहा जाता कि विश्वविजेता नेपोलियन एक मिनट के विलम्ब से पहुँचने के कारण वाटरलू में पराजित हो गया।

जो समय की कीमत नहीं समझता, वह वास्तव में मानव-जीवन का सही मूल्यांकन नहीं कर पाता। ऐसे व्यक्ति के लिए जीवन में कोई उद्देश्य या लक्ष्य नहीं है। दूसरे शब्दों में कहें तो वह पशुओं से किसी भी प्रकार उच्चतर जीवन नहीं बिताता। पशु काल की गणना नहीं करता और इसलिए उसमें काल का आयाम नहीं होता। पर मनुष्य काल की गणना करता है। काल की पकड़ का पहला कदम है समय की पाबन्दी।

धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में भी समय की पाबन्दी अनिवार्य बतायी गयी है। यदि मैं साधना के क्षेत्र में पदार्पण करने का इच्छुक हूँ, तो निश्चित समय पर प्रतिदिन की साधना शीघ्रतर फलवती होती है। कुछ लोग पूछते हैं कि समय की निश्चितता पर इतना जोर क्यों? इसका उत्तर यह है कि कोई काम यदि रोज एक निश्चित समय पर किया जाय, तो ठीक उस समय हमारा मन उस कार्य की ओर अपने आप उन्मुख होने लगेगा। उदाहरणार्थ, यदि मुझे ४ बजे अपराह्न में चाय पीने की आदत है, तो ४ बजते ही मेरे मन में चाय की इच्छा जाग्रत हो जायगी। यही तर्क निश्चित समय में साधना करने या अन्य कोई काम करने पर भी लागू होता है। उससे हमारा मन अधिक एकाग्र हो जाता है और उसकी छिपी हुई क्षमता अधिकाधिक प्रकट होती है।

समय की पाबन्दी वस्तुतः मन के केन्द्रीकरण का अभ्यास है। मन में असीम सम्भावनाएँ निहित हैं। इन सम्भावनाओं को प्रकट करने का साधन मन का केन्द्रीकरण ही है। समय की पाबन्दी का अभ्यास पहले-पहल कष्टप्रद मालूम होता है, पर धैर्यपूर्वक यदि उसे कोई साध लेता है, तो उसके लिए विश्व अपना खजाना खोल देता है।

❑❑❑

धनुष-यज्ञ का तात्पर्य (२/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम द्वारा जनवरी २००२ ई. में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोह के समय पण्डितजी ने 'धनुष-यज्ञ' पर ७ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उसके द्वितीय प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

यंह जो प्रसंग प्रभु के द्वारा मेरे माध्यम से चुना गया है, वह प्रसंग बड़ा गम्भीर है और मुझे बड़ा सन्तोष होता है कि वे मुझे माध्यम बनाकर बोलते स्वयं हैं। वक्ता तो वे ही हैं, मुझे यंत्र बना लेते हैं। और मैं तो आपको वही सुनाना चाहूँगा, जिसे सुनने में आपका हित है। भले ही वह मनोरंजक और प्रिय प्रतीत न हो। प्रसंग बड़ा गम्भीर है और आप लोगों की जो जिज्ञासा है, उसे देखकर मुझे विश्वास है कि आप बड़े एकाग्र मन-बुद्धि तथा चित्त से इसे सुनेंगे।

भाषणों में बहुधा कहा जाता है कि सुनिए और उसे जीवन में उतारिये। वक्ता कहते हैं कि राम के चरित को जीवन में उतारना चाहिए और सुननेवाले भी सुनते हैं। लेकिन न तो कहनेवाले के जीवन में उतर पाता है और न सुननेवाले के। इसका कारण यह है कि वस्तुत: आपके जीवन में वह भाव ही नहीं है, जो श्रीराम के जीवन में, उनके हृदय में है। ऐसी स्थिति में यदि हम श्रीराम के चरित का, आचरण का अनुकरण करने का, अपने जीवन में उतारने का प्रयास करें, तो इस बहिरंग प्रयास से हम एक अभिनेता के समान केवल नाटक कर सकते हैं, परन्तु वह तो वस्तुत: एक दिखावा मात्र है। अब भगवान श्रीराम के चरित्र के उस पक्ष पर आते हैं, जिसका वर्णन आपके समक्ष किया जा रहा था।

उन दिनों महाराज जनक की गणना सर्वश्रेष्ठ ज्ञानियों में की जाती थी। यहाँ तक कि बड़े बड़े ऋषि-मुनि भी ज्ञान या निष्काम कर्म का रहस्य जानने के लिए उनके पास आते थे और उनसे उपदेश ग्रहण करते थे।

उदित उदयगिरि मंच पर रघुबर बालपतंग।
बिकसे संत सरोज सब हरषे लोचन भृंग।। १/२५४

भगवान राम जब उस मंच पर खड़े हुए तो गोस्वामीजी ने उनके लिए सूर्य की उपमा दी और उसके साथ साथ उन्होंने यह भी कहा कि श्रीराम-रूपी सूर्य के उदय होने से संत-कमल विकसित हो गए। इस वाक्य के अर्थ की गहराई पर ध्यान दीजिए। जैसे गुरु के द्वारा शिष्य में बदलाव आ जाता है, यह बाहर से प्रतीत होता है। जैसे सूर्य जब निकलता है, तो वस्तुत: वह कमल में कोई विशेषता बाहर से लाकर नहीं डाल देता है, वह तो कमल में पहले से ही है। कमल में जो पराग है, वह पहले से ही है। कमल में जो मकरन्द है, वह भी पहले से ही है। **सूर्य का कार्य उस कमल का निर्माण नहीं है, पर कमल में जो छिपा हुआ है, मुँदा हुआ है, उसे प्रगट कर देना ही सूर्य की विशेषता है।** इसका अभिप्राय यह है कि गुरु-शिष्य को योग्य बना नहीं देते, वह तो योग्य है ही, पर उसकी योग्यताएँ सुप्त हैं, उसमें छिपी हुई हैं। गुरु के प्रकाश से वह कमल विकसित हो उठता है। इसलिए महाराज जनक की प्रशंसा करते हुए मानस में कहा गया –

जासु ग्यानु रबि भव निसि नासा।
बचन किरन मुनि कमल बिकासा।। २/२७६/१

जब किसी ने भगवान राम से पूछा – आपके दर्शन से क्या मिलता है? तो यही बात उन्होंने भी कही। यों तो व्यक्ति भगवान से अनेकों प्रकार से माँगता ही रहता है और बहुत बार मिलता भी है, पर प्रभु ने एक अनोखी बात कही। वे बोले – सत्य तो यह है कि वस्तुत: मेरे दर्शन से किसी व्यक्ति को कुछ नहीं मिलता। बड़ी विचित्र बात है, जिस स्तर की बात कही जा रही है, उस स्तर में आप उसे लेंगे। आप जिस समय सामनेवाले को देते हैं, तो उसका अर्थ यह है कि आपने दया करके अपनी विशेषता से उसे दिया। पर भगवान कहते हैं – मेरे दर्शन से किसी व्यक्ति को कुछ मिलता नहीं। – तो महाराज, आपके दर्शन से क्या लाभ हुआ? हम लोगों को तो लाभ की ही चिन्ता बनी रहती है। भगवान ने बड़ी सुन्दर बात कही – उसकी जरूरत ही नहीं है। कुछ भी ऐसा नहीं है, जो जीव के पास नहीं है। उसमें सब है। वह बाहर माँगता फिरता है। जैसे किसी के खेत में रत्न हो, घर में रत्न पड़ा हो और वह उस रत्न को काँच का टुकड़ा समझकर उसे पड़ा रहने दे और इधर-उधर माँगता फिरे। बाद में एक जौहरी कृपा करके बता दे कि यह तो रत्न है। भगवान बोले – मेरे दर्शन से यह नहीं होता कि तुम जो चाहो, वह तुम्हें मिल जाय। जब कुछ पाने की आशा से तुम किसी का दर्शन करते हो, तो वह तुम्हें कुछ देता है। पर जब जीव मेरे पास आता है, तो मैं कहता हूँ कि तुम्हारे पास क्या नहीं है, जो मुझसे माँग रहे हो? उन्हीं के शब्दों में – मेरे दर्शन का अनुपम फल यह है कि जीव अपना सहज स्वरूप पा लेता है –

मम दरसन फल परम अनूपा।
जीव पाव निज सहज सरूपा।। ३/३५/९

भगवान कहते हैं कि जिस अपने स्वरूप को वह भूला हुआ है, अपनी जिस महिमा को वह भूला हुआ है, वह मेरे पास आकर खिल उठता है, जैसे सूर्य का प्रकाश हुआ, कमल खिल गया तो दिखाई पड़ा कि इसमें पीले रंग का कितना सुन्दर मकरन्द है, कैसा सुन्दर सौरभ और सुगन्ध है !

इसका अभिप्राय यह है कि यह सब हम सबमें होते हुए भी वह वस्तु हमारे अन्तर की गहराई में सुप्त हो गयी है, कमल के समान मुँदी हुई है और हम उसे नहीं देख पा रहे हैं। और ज्ञान का उद्देश्य यह बताना है कि आप स्वयं को पहचानिए, जानिए – आप कौन हैं? आपके पास क्या है? और जब आप यह समझ लेंगे तो – भगवान कहते हैं – तब तो आपको कुछ माँगने की जरूरत ही नहीं रह जाएगी। अत: भगवान सब कुछ दे सकते हैं, देते हैं, जिसने जो चाहा उसे वही दिया, राज्य भी दिया, कामनाओं को पूर्ण भी किया। पर भगवान कहते हैं – सत्य तो यह है कि **मेरे दर्शन का सबसे बड़ा फल यह है कि व्यक्ति स्वयं को पहचान ले, अपने स्वरूप को जान ले**। अपने स्वरूप को जान लेने का यह फल होगा कि उसे मुझमें और अपने में भिन्नता की अनुभूति नहीं होगी।

भगवान ने उसके उच्चतम रूप को इन शब्दों में प्रगट किया। हम उस उच्चतम स्थिति में पहुँचने के लिए उनके चरित्र का अनुकरण करना चाहते हैं। परन्तु हमारा मन उस दिशा में न जाकर विषयों की ओर भागता है। बुद्धि के द्वारा उसको ठीक ठीक समझ नहीं पाते, चित्त में उसे स्वीकार नहीं कर पाते। यदि हमारे मन में यह इच्छा हो कि ये लक्षण हममें आवें, तो उन्हें उपदेशक नहीं ला सकता। **किसी उपदेशक के उपदेश सुनकर न तो आप पिता के भक्त बन जाएँगे, न भाई से प्रेम करने लगेंगे, न किसी से अच्छा व्यवहार करने लगेंगे। सुन लेंगे और कहेंगे, बहुत अच्छी कथा हुई। सुनकर जाने के बाद आप वही करेंगे, जो रोज करते हैं।** और तब? 'मानस' का उद्देश्य यह है कि समस्या का समाधान और यदि आप उसे केवल बाहर ढूढ़ने की चेष्टा करेंगे तो उसमें सफलता नहीं, केवल असफलता ही मिलेगी।

बार बार उपदेश दिया जाता है कि भगवान राम के चरित्र का अनुकरण करना चाहिए, पर वस्तुत: राम तो ध्यानगम्य हैं, भगवान राम का ध्यान करना चाहिए। भगवान के ध्यान करने का अर्थ क्या हुआ? –

ध्येयं सदा परिभवोऽग्र-अभीष्ट-दोहम्
तीर्थास्पदं शिव-विरिंचि नतं शरण्यं।

श्रीमद् भागवत में भगवान श्रीराम के लिए इसी शब्द का प्रयोग किया गया है। कहा जाता है कि भगवान शंकर की नगरी काशी में जो शरीर का त्याग करता है, उसकी मुक्ति होती है। मुक्ति कैसे होती है? उस श्लोक में बताया गया कि मुक्ति तो वस्तुत: बिना ज्ञान के नहीं होती – **ज्ञेयं ज्ञेयं ध्येयं ध्येयम्**। ज्ञान बहुत बड़ी चीज है। ज्ञान का सीधा-सा अर्थ है – जान लेना। इसका सूत्र यही है।

धनुष-यज्ञ के समय लक्ष्मणजी ने प्रभु रामभद्र से कहा कि यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं धनुष को उठाकर सौ योजन तक चला जाऊँ और उसे कुकुरमुत्ते के तने की भाँति तोड़ दूँ –

जौं तुम्हारि अनुसासन पावौं। ...
कमल नाल जिमि चाप चढ़ावौं।
जोजन सत प्रमान लै धावौं।। १/२५३/४-८
तोरौं छत्रक दंड जिमि ... ...

यह लक्ष्मणजी का वाक्य है, उसे यदि बहिरंग दृष्टि से देखें तो यह बड़ा अनुचित और अटपटा प्रतीत होता है। महाराज जनक ने तो यह कहा कि जो धनुष तोड़ेगा, उसी को मेरी कन्या वरण करेगी। लक्ष्मणजी यह तो कह सकते थे कि प्रभु श्रीराम तोड़ देंगे, पर जब वे यह कहने लगे कि प्रभु कहें, तो मैं तोड़ दूँ, तो बड़ा विचित्र लगता है। एक वक्ता तो कहते थे कि लक्ष्मण जी बिना सोचे-समझे बोला करते थे। वहाँ पर लिखा है कि जब लक्ष्मण जी बोले तो पृथ्वी डगमगाने लगी –

लखन सकोप बचन जे बोले।
डगमगानि महि दिग्गज डोले।। १/२५४/१

वे वक्ता महोदय इसका अर्थ करते थे – "पृथ्वी काँपने लगी कि यह क्या बोल रहा है। सीताजी का विवाह श्रीराम से होनेवाला है और ये स्वयं धनुष तोड़ने को तैयार हैं।" अब उन वक्ता को क्या कहें! क्योंकि लक्ष्मण जी की वाणी सुनकर किस पर क्या प्रभाव पड़ा, इसका वर्णन भी गोस्वामी जी ने किया है। जिन लक्ष्मण जी ने कहा कि मैं इस धनुष को अभी सौ योजन दूर ले जाकर क्षण भर में तोड़ सकता हूँ। उन्होंने प्रभु से यह भी कहा – बस, मुझे आपकी आज्ञा की आवश्यकता है। लक्ष्मण जी के इन शब्दों का जो प्रभाव भिन्न भिन्न लोगों पर पड़ा, इसका वर्णन गोस्वामी जी ने किया है –

सकल लोग सब भूप डेराने।
सिय हियँ हरषु जनकु सकुचाने।। १/२५४/२

सारे-के-सारे राजा काँपने लगे। पर प्रसन्नता किसको हुई? मानस के शब्दों के अर्थ को समझने के लिए आप उन्हें बड़े ध्यान से पढ़िए। सबसे अधिक प्रसन्नता किसको हुई? गोस्वामी जी कहते हैं – लक्ष्मण जी का भाषण सुनकर सबसे अधिक प्रसन्नता सीताजी को हुई। यह रामायण का वाक्य है। लक्ष्मण जी का भाषण सुनकर जनक जी संकोच में पड़ गए, पर सीताजी को परम प्रसन्नता हुई। उन्हें तो अत्यन्त दुख होना चाहिये था कि यह कितना अशिष्ट है, अभद्र है। मैं इनके बड़े भ्राता श्रीराम से कितना स्नेह करती हूँ और यह जानते हुए कह रहा है कि धनुष को मैं तोड़ दूँ। पर, सीताजी तो लक्ष्मण की बात सुनकर परम प्रसन्न हो गयीं। जनक-नन्दिनी मुँह से भले ही न बोलें, पर गोस्वामी जी कहते हैं कि सीताजी के हृदय में

तो प्रसन्नता की बाढ़ आ गयी। अकेले वे ही नहीं, विश्वामित्र जी तो और भी अधिक प्रसन्न हुए –

गुर रघुपति सब मुनि मन माहीं।
मुदित भये पुनि पुनि पुलकाहीं ।। १/२५४/३

विश्वामित्र जी प्रसन्न क्यों हुए? बोले – उस भाषण का अर्थ सब लोग नहीं समझ सके थे। जो नहीं समझे, या उसका गलत अर्थ लगाया, वे प्रसन्न नहीं हुए। गुरु विश्वामित्र बड़े प्रसन्न हुए। और श्रीराम के आनन्द की तो सीमा ही नहीं है। वे रोमांचित हो रहे हैं और उनकी आँखों में आनन्द के अश्रु आ गए। जबकि उन्हें तो लगना चाहिए कि कल पुष्प-वाटिका में मैंने लक्ष्मण से कहा था – सीताजी का सौन्दर्य देख मेरे मन में अनुराग का उदय हो रहा है –

तात जनकतनया यह सोई।
धनुषजग्य जेहि कारन होई ।।
जासु बिलोकि अलौकिक सोभा।
सहज पुनीत मोर मन छोभा ।। १/२३१/१,३

और आज वही लक्ष्मण कैसी बात कर रहा है। श्रीराम को बड़ा क्रोध आना चाहिए। पर गोस्वामी जी कहते हैं – श्रीराम आनन्दित हो रहे हैं, उन्हें रोमांच हो रहा है। गुरु विश्वामित्र को प्रसन्नता हो रही है, जनकनन्दिनी को प्रसन्नता हो रही है और आपको नहीं हो रही है तो मैं क्या करूँ? आपमें भी समझने की क्षमता होती, तो आप भी उन्हीं के साथ प्रसन्न हो जाते। वास्तव में इसका तात्त्विक अर्थ क्या है?

प्रसन्न क्यों हो रहे हैं? अभी न तो धनुष टूटा है और न विवाह हुआ है। यह भी नहीं कि श्रीराम ने लक्ष्मणजी से कह दिया हो कि तुम तोड़कर दिखा दो। गोस्वामीजी कहते हैं – भगवान श्रीराम ने प्रसन्न मन से लक्ष्मणजी की ओर देखा और बस प्रभु के नेत्र का संकेत पाते ही लक्ष्मण बैठ गए। इसके आगे वे पंक्तियाँ आती हैं, जिनमें गुरुदेव आदेश देते हैं –

बिस्वामित्र समय सुभ जानी।
बोले अति सनेहमय बानी ।।
उठहु राम भंजहु भवचापा।
मेटहुँ तात जनक परितापा ।। १/२५४/५-६

इसका सूत्र क्या है? विश्वामित्र को तो सबसे अधिक प्रसन्नता यह सोचकर हुई कि मैंने बहुत बुद्धिमानी का कार्य किया कि अकेले श्रीराम को नहीं लाया। लक्ष्मण जी को यदि वे साथ नहीं ले आए होते तो आज यह घटना जो होनेवाली है, उसका श्रीगणेश ही न हुआ होता। कितना अच्छा हुआ कि लक्ष्मण को साथ ले आए। **आज पता चल गया कि राम के साथ लक्ष्मण का होना कितना आवश्यक है।** उनकी एक भूमिका तो यहाँ पर है और दूसरी? धनुष टूट जाने पर परशुराम जी महाराज आते हैं और अन्ततः अपना धनुष श्रीराम को सौंपकर चले जाते हैं, उसके बाद महाराज जनक महर्षि विश्वामित्र के पास आए और उनसे जो कुछ बोले, उस वाक्य का अर्थ बड़ा गम्भीर है। जनक जी ने कहा – महाराज, आपकी कृपा से श्रीराम ने धनुष को तोड़ा –

जनक कीन्ह कौसिकहि प्रनामा।
प्रभु प्रसाद धनु भंजेउ रामा ।। १/२८६/५

इसके बाद उनका अगला वाक्य है – दोनों भाइयों ने मुझे कृतकृत्य किया –

मोहि कृतकृत्य कीन्ह दुहुँ भाई। १/२८६/६

यह 'कृत्य' शब्द भक्ति और वेदान्त में अन्तिम शब्द है। कृत्यकृत्य का अर्थ क्या है? मनुष्य को जीवन भर निरन्तर कर्म करते रहना पड़ता है। मनुष्य के अन्तःकरण में इच्छाएँ हैं। जब हम कुछ चाहते हैं, तो उसे पूरा करने के लिए कर्म करना पड़ता है। पर जब आपको लगने लगे कि अब कुछ करना नहीं है, करने की आवश्यकता नहीं है, सब कुछ हमने पा लिया, तो कृतकृत्य हो गए। जनकजी ने कहा – अब मैं कृतकृत्यता का अनुभव कर रहा हूँ। पर क्या आपने ध्यान दिया? एक शब्द उन्होंने और जोड़ दिया। वे कह सकते थे कि गुरु के आदेश से या आशीर्वाद से श्रीराम ने धनुष तोड़कर मुझे कृतकृत्य बना दिया। पर वे शब्द क्या कहते हैं – "दोनों ही भाइयों ने मुझे कृतकृत्य किया।" अकेले श्रीराम को नहीं कहते। वे लक्ष्मण के लिए भी कहते हैं कि राम और लक्ष्मण – दोनों ने मुझे कृतकृत्य किया। जिन महाज्ञानी जनकजी के पास बड़े बड़े मुनि ज्ञान की शिक्षा लेने आते हों, उनको भरी सभा में जिसने फटकार दिया हो और वह भी जो आयु में उनसे बहुत छोटे हों, जनक जी की आयु उनसे बहुत अधिक है और महान् ज्ञानी के रूप में चारों ओर उनकी ख्याति है। वे श्रद्धेय हैं और भरी सभा में लक्ष्मण जी ने उन्हें फटकार दिया। पर जनक जी यह कहना नहीं भूलते कि केवल राम ने ही नहीं, लक्ष्मण ने भी मुझे कृतकृत्य कर किया। और इससे भी बड़ी बात पर क्या आपने ध्यान दिया? परशुराम जी महाराज जब धनुष को अर्पित करके जाने लगे, तो श्रीराम की स्तुति करते हुए वे उनके गुणों का वर्णन करते हैं –

जय रघुबंस बनज बन भानू।
गहन दनुज कुल दहन कृसानू ।।
जय सुर बिप्र धेनु हितकारी।
जय मद मोह कोह भ्रम हारी ।। १/२८५/१-२

और फिर कहते हैं – आप और लक्ष्मण दोनों ही अत्यन्त क्षमा के स्वरूप हैं। आप दोनों साक्षात् क्षमा-मन्दिर हैं –

अनुचित बहुत कहेउँ अग्याता।
छमहु छमामंदिर दोउ भ्राता ।। १/२८५/६

इसका अभिप्राय है कि परशुराम जी महाराज भी लक्ष्मण जी की महिमा को अपने अन्तरंग में स्वीकार करने में संकोच नहीं करते, अपितु अत्यन्त आनन्द का अनुभव करते हैं।

जनक जी कहते हैं कि श्रीराम ने तो किया ही पर लक्ष्मण ने भी मुझे कृतकृत्य कर दिया। क्या कर दिया लक्ष्मण ने?

जनकजी की यह प्रतिज्ञा ही संसार के इतिहास में सबसे अनोखी है। प्राचीन काल में कन्या के लिये योग्य वर की खोज में पिता के द्वारा और कभी कभी कन्या के द्वारा कोई प्रतिज्ञा की जाती थी – ऐसी ऐसी योग्यता एवं सामर्थ्य जिसमें हो, उस व्यक्ति के गले में मैं जयमाला डालूँगी? या पिता के द्वारा अपनी पुत्री के लिए योग्य वर की परीक्षा के लिए धनुष चलवाकर देखने का संकेत आपको अनेक आख्यानों में मिलेंगे।

प्राचीन काल में धनुर्विद्या का बड़ा महत्व था। तलवार आदि अस्त्रों के द्वारा प्रहार केवल निकटवालों पर होगा, पर दूर तक किसी पर प्रहार करना हो, तो धनुष-बाण की आवश्यकता होगी। धनुष पर बाण चढ़ाकर उससे दूर तक लक्ष्यवेध करना, उस समय योग्यता का प्रमाण माना जाता था। आज भी है। ओलम्पिक तथा अन्य स्पर्धाओं में अन्य खेलों के साथ निशाने-बाजी की प्रतियोगिता भी आयोजित की जाती है। वहाँ किसी चित्र या वस्तु को निशाना बनाकर उस पर प्रहार कर अपनी योग्यता प्रमाणित करनी पड़ती है। इस प्रकार धनुष पर बाण रखकर लक्ष्यवेध करने की परम्परा बहुत पुरानी थी। द्वापर युग में भी जब महाराज द्रुपद ने अपनी कन्या द्रोपदी के लिए योग्य वर की खोज की तो वह महाभारत की कथा में पढ़ा होगा कि एक यांत्रिक मछली का निर्माण कराया, जो निरन्तर तीव्र गति से नाच रही थी और नीचे कड़ाह में उसका प्रतिबिम्ब दिखाई दे रहा था। परीक्षा देनेवाले पुरुषार्थी व्यक्ति को, जिसे द्रोपदी से विवाह करने की इच्छा है, उस निरन्तर गतिशील मछली की आँख को प्रतिबिम्ब में देखकर जो बाण से वेध देगा, वह द्रोपदी को प्राप्त कर सकेगा। यह कार्य अर्जुन के द्वारा सम्पन्न हुआ। इसका बड़ा महत्व है कि कौन वीर कितना बड़ा निशाने-बाज है, कितने दूर तक के लक्ष्य को वेध सकता है।

पर जनक की प्रतिज्ञा बड़ी विचित्र है। अगर उनकी प्रतिज्ञा यह होती कि जो व्यक्ति इस धनुष पर बाण चढ़ाकर निर्धारित लक्ष्य को वेध देगा, उसका वरण हमारी पुत्री सीता करेगी, तो वह हमारी परम्परा के अनुकूल था। पर उन्होंने जो प्रतिज्ञा की वैसा तो इतिहास में किसी ने भी नहीं किया। धनुष पर बाण चलानेवाले को वे कन्या नहीं देंगे, धनुष तोड़नेवाले को उनकी कन्या वरण करेगी। इसीलिए तो परशुराम जी महाराज इतने कुपित हुए। बोले – "अरे जनक, तुझे कौन ज्ञानी कहेगा? तू तो महामूर्ख है।" महाराज जनक को सभी लोग ज्ञानी कहा करते थे, पर परशुराम जी ने उन्हें बुद्धिहीन क्यों कहा? बोले – "मैंने सुना है कि जिस धनुष की तू नित्य पूजा किया करता था और आज तूने कैसी विचित्र प्रतिज्ञा कर दी कि कोई इसे तोड़ दे। इतने दिनों तक जिसकी पूजा हुई, उसी को तोड़ने की प्रतिज्ञा, क्या यह ज्ञानी का लक्षण है? इसका अर्थ है कि तू महान् जड़ है। लोगों ने भ्रम से तुम्हें ज्ञानी मान लिया है।"

अब परशुरामजी महाराज के सामने उत्तर देना तो कोई हँसी-खेल नहीं है। इसलिए डर के मारे बोल नहीं रहे हैं –

अति डरु उतर देत नृपु नाहीं। १/२७०/५

उत्तर तो था, पर सामनेवाला व्यक्ति सुनने को तैयार हो तब न, वह तो फरसा उठाए खड़ा है, एक क्षण में सिर काट लेगा। जहाँ ऐसा आतंक छाया हो, वहाँ क्या उत्तर दें!

जनक जी क्या उत्तर देते? उत्तर था – भगवान शंकर ने यदि धनुष के साथ बाण भी दिए होते, तो मैं धनुष चलवाकर परीक्षा करवाता। पर, उन्होंने धनुष के साथ बाण तो दिये नहीं, तो अब उस धनुष को चलवायें कैसे! ऐसे बिना बाण के धनुष को तुड़वाने के सिवा दूसरा क्या उपयोग है? इसका अर्थ आगे चलकर आपके सामने आएगा।

भगवान शंकर ने जनकजी को धनुष तो दिया, पर बाण नहीं दिये और जनक जी जैसे ज्ञानी ने उसे तुड़वाने की प्रतिज्ञा कर दी। वह प्रतिज्ञा स्वयं में बड़ी अनोखी है। इतिहास में ऐसी प्रतिज्ञा कभी किसी ने नहीं की। इसीलिए परशुराम जी ने कहा – तुमने ऐसी मूर्खता कर डाली। इसका अर्थ यह है कि जनक जी ने लीक से हटकर ही ऐसी प्रतिज्ञा की थी। **उनकी परीक्षा केवल शारीरिक शक्ति या एकाग्रता की नहीं, बल्कि ज्ञानमय है।** जिस धनुष-यज्ञ में जनक जैसे ज्ञानी परीक्षा ले रहे हों, उस परीक्षा का उद्देश्य केवल यह जानना नहीं है कि प्रत्याशी के शरीर में कितनी शक्ति है या वह कितना बड़ा निशानेबाज है। जनक जी की प्रतिज्ञा बड़े गम्भीर अर्थवाली थी। बाद में जब ये बातें सामने आती गयीं, तब लोगों का भ्रम दूर होता गया। पर प्रारम्भ में तो यह बात बड़ी अटपटी थी। महाराज जनक की प्रतिज्ञा अपने आप में नई थी, अनोखी थी और बाहर से देखने में बड़ी विचित्र थी।

आप रामायण में पढ़ते हैं कि जब जनक जी के बन्दियों ने आकर उनकी प्रतिज्ञा को सुनाया – जो कोई इस धनुष को तोड़ देगा, उसी को मेरी कन्या वरण करेगी। पर उस धनुष को जब कोई नहीं तोड़ सका, तो महाराज जनक बड़े दुखी होकर बोले – मुझे पता नहीं था कि पृथ्वी वीरों से शून्य हो गयी है, अन्यथा ऐसी प्रतिज्ञा ही नहीं करता। यह सुनकर लक्ष्मणजी उठ खड़े हुए और बोले – मैं अभी इस धनुष को कुकुरमुत्ते के तने की तरह तोड़ सकता हूँ। वे धनुष को तोड़ सकते थे या नहीं? तोड़ सकते थे, तो पहले क्यो नहीं उठे? इसका रहस्य क्या है?

जिस दिन धनुष टूटा, उस दिन प्रातःकाल भगवान राम और लक्ष्मण जी के बीच एक संवाद हुआ था। उस संवाद में बहिरंग दृष्टि से काव्य का आनन्द है, साहित्य का भी आनन्द है, परन्तु उससे भी अधिक आनन्द ज्ञान का है। भगवान राम

ने लक्ष्मण जी से कहा – लक्ष्मण, जरा देखो तो, सूर्य निकल आया है या नहीं? यह प्रश्न अपने आप में बड़ा आश्चर्यजनक है। क्या भगवान स्वयं ही नहीं देख सकते? जहाँ श्रीराम हैं, वहीं लक्ष्मण भी हैं, तथापि वे लक्ष्मण से पूछते हैं – जरा देखकर बताओ कि सूर्य निकल आया या नहीं? और लक्ष्मण जी ने जो उत्तर दिया, वह भी बड़ा दार्शनिक है। उसमें का काव्य का भी आनन्द है, व्यंग्य भी है और दार्शनिक सत्य भी है। लक्ष्मण जी ने कहा – प्रभो, एक सूर्य तो निकल आया है। – निकल आया है, तो एक कहने का तात्पर्य क्या है? बोले – "नहीं महाराज, एक और सूर्य की आवश्यकता है। यह जो भौतिक अन्धकार है, उसको नष्ट करनेवाला सूर्य का तो उदय हो गया है, वह तो निकल आया है, पर जनकपुर में इस समय एक आध्यात्मिक अन्धकार छाया हुआ है और इस अन्धकार को मिटाने के लिए एक और सूर्य की जरूरत है और वह सूर्य अभी नहीं निकला है। – वह सूर्य कौन-सा है? लक्ष्मण जी भगवान की भुजाओं की ओर इंगित करके कहते हैं – आपकी इन भुजाओं के सूर्य का उदय होने पर ही धनुष का अन्धकार दूर होगा। अब इसको यदि आप साधारण अर्थों में लें, तो भी अच्छा है कि आपके भुजाओं द्वारा धनुष टूट जायेगा। पर लक्ष्मण जी की उपमा बड़ी गम्भीर है। उन्होंने कहा – धनुष अन्धकार है और आपकी भुजाएँ सूर्य। प्रभु ने पूछा – लक्ष्मण, तुम्हें तो पता है कि संसार के बड़े बड़े पुरुषार्थ-सम्पन्न राजा आए हैं, क्या इनमें से कोई भी इस अन्धकार को दूर नहीं कर सकता? लक्ष्मण जी बोले – नहीं महाराज, कोई नहीं कर सकता –

नृप सब नखत करहिं उजियारी।
टारि न सकहिं चाप तम भारी।।
कमल कोक मधुकर खग नाना।
हरषे सकल निसा अवसाना।।
ऐसेहिं प्रभु सब भगत तुम्हारे।
होइहहिं टूटें धनुष सुखारे।। १/२३९/१-३

– राजाओं-रूपी सभी तारे थोड़ा उजाला तो करते हैं, पर धनुष -रूपी घोर अन्धकार को हटा नहीं सकते। जैसे रात समाप्त होने पर कमल, चकवे, भौंरे तथा विविध प्रकार के पक्षी हर्षित होते हैं, वैसे ही धनुष टूटने पर आपके सभी भक्त हर्षित होंगे।

बहुत बड़ी बात कही लक्ष्मण जी ने। उन्होंने जब यह कहा कि धनुष अन्धकार है, तो इसका अभिप्राय क्या है? अन्धकार के बाद जब प्रकाश होता है, तो क्या प्रकाश से संसार बदल जाता है? जो वस्तु अँधेरे में जिस रंग की, जिस रूप की है, सूर्य निकल आने पर भी वह उसी रंग-रूप में दिखाई देगी। सूर्य का उदय होने पर, प्रकाश होने पर वस्तु जैसी है, वैसी ही दिखाई देने लगती है। लक्ष्मण जी बोले – "महाराज जनक की प्रतिज्ञा में अधूरापन यह है कि वे यदि मानते हैं कि धनुष अन्धकार है और उसके टूटने पर ही सीताजी का विवाह होगा, तो यह उनका भ्रम है। अँधेरे के बाद सूर्य निकल आया, बस, वस्तु दिखाई देने लगी। विवाह धनुष टूटने पर होगा ऐसी बात नहीं है। विवाह तो अनादि काल से हो चुका है, धनुष के टूटने पर वह दिखाई देने लगेगा। जिसका विवाह हो चुका है, उसका अब और क्या विवाह होगा?"

वस्तुत: यह अन्धकार है क्या? क्या अन्धकार कोई वस्तु है? इसी प्रकार यह धनुष क्या है? लोगों को भ्रम है कि धनुष कोई वस्तु है। इसीलिए तो उसे तोड़ने के लिए भी तैयार हो गये। लक्ष्मण जी तो मानते ही नहीं कि धनुष टूटने का विवाह से कोई सम्बन्ध है, क्योंकि वे जानते हैं कि श्रीराम और सीताजी का विवाह तो कब का हो चुका है और केवल जानते ही नहीं, वे उस विवाह के प्रत्यक्ष साक्षी भी हैं। जब विवाह हुआ तो कोई और तो था नहीं, अकेले काल ही उस परिणय को देख रहे थे। वे तो उस विवाह के एकमात्र अकेले साक्षी हैं। लक्ष्मण जी कौन हैं?

लक्ष्मण जी, सीताजी और भगवान श्रीराम की वन्दना बड़ी दार्शनिक है। श्रीराम तो ब्रह्म हैं ही, पर उसके साथ साथ उनके लिए एक शब्द और भी आया है – इस विश्व के कारण और करण दोनों ही श्रीराम हैं –

अखिल बिस्व कारन करन।। १/२०८ ख

और सीताजी कौन हैं –

आदिसक्ति जेहिं जग उपजाया। १/१५२/४

भगवान जगत् के कारण तथा करण हैं और सीताजी के द्वारा यह संसार बनाया गया। भरतजी और शत्रुघ्नजी की वन्दना में वह शब्द नहीं है। भरतजी की वन्दना तो एक भक्त और सन्त के रूप में की गई है –

प्रनवउँ प्रथम भरत के चरना।
जासु नेम ब्रत जाइ न बरना।। १/१७/३

शत्रुघ्नजी की वन्दना एक भक्त के रूप में की गई –

रिपुसूदन पद कमल नमामि।
सूर सुसील भरत अनुगामी।। १/१७/८

पर लक्ष्मण जी कौन हैं? उनकी वन्दना करते हुए जो पंक्ति आई है, वह बड़ी दार्शनिक है। लक्ष्मण जी वस्तुतः कोई व्यक्ति नहीं, साक्षात् शेष हैं। पर इसके साथ जो दूसरा शब्द है कि ये सौ मुखवाले हैं, पर यहाँ तो दिखाई दे रहा है कि इनका एक मुख है और तीसरा शब्द है, ये जगत् के कारण हैं –

सेष सहस्त्रसीस जगकारन। १/१७/७

इस प्रकार संसार के कारण श्रीराम हैं, संसार की कारण सीताजी हैं और संसार के कारण लक्ष्मण जी हैं। इन तीनों के ही साथ कारण शब्द का प्रयोग किया गया है।

❖ **(क्रमशः)** ❖

मातृभक्त विवेकानन्द

स्वामी सुपर्णानन्द

माँ के प्रति भक्ति को मातृभक्ति कहते हैं और माँ के प्रति भक्ति का पोषण करनेवाले को मातृभक्त। युगाचार्य विवेकानन्द मातृभक्त थे, क्योंकि माँ के प्रति उनमें असीम भक्ति थी।

स्वामी विवेकानन्द के मातृभक्ति का पौधा उनकी जन्मदायिनी माँ भुवनेश्वरी देवी को आश्रय करके अंकुरित हुआ है। वह माँ रूपी मिट्टी ही उनका आधार है, जिसने उन्हें प्राणरस देकर जीवित रखा और क्रमश: वह भक्तितरु ऊपर की ओर मिट्टी छोड़कर उठा और सब ओर स्वयँ को विस्तारित किया। परन्तु जिनकी माँ भुवनेश्वरी हों, क्या उनकी मातृभक्ति सिर्फ माँ को जकड़कर ही सूख जाएगी? क्या ऐसा भी सम्भव है? नि:सन्देह वह स्वयं ही त्रिलोकेश्वरी की ओर दौड़ेगा। विद्यासागर आदि अनेक महापुरुषों की मातृभक्ति लता के समान अपनी माँ को ही जकड़कर मुर्झा गई। वैसे उनकी मातृभक्ति भी अनन्य है, परन्तु स्वामी विवेकानन्द की मातृभक्ति वृक्ष-स्वरूप हो माटी के बन्धन को वरण करते हुए उर्ध्वलोक में आकाश को ढूँढ़ने निकली है। वे वेदान्तिक वैराग्य का भाव लेकर माँ को छोड़ बाहर दौड़े थे, जो कि उनकी जीवनधारा के साथ पूर्णरूपेण संगतिपूर्ण था। संन्यासी के रूप में वे माँ का त्याग करके तो चले गये, पर मातृभक्ति का? विवेकानन्द की मातृभक्ति सभी बन्धनों से मुक्त होकर अन्य भावों से अनन्य रूपों में व्यक्त हुई। भुवनेश्वरी (जन्मदात्री-माँ) के भक्त त्रिभुवनेश्वरी (जगदम्बा) के चरणों में लोट पड़े और सारदेश्वरी (गुरुमाता) के आँचल के रत्न होकर उन्होंने अपनी मातृभक्ति को नाना दिशाओं में नाना प्रकार से प्रकट किया।

मानो भुवनेश्वरी-रूपी आधारभूत कमण्डलु से विवेकानन्द की मातृभक्ति नि:सृत होकर तीन अत्यन्त वेगवान धाराओं में विवेकानन्द के देह-मन तथा चेतना को प्लावित और पूत-पवित्र किया है। यह हैं मानो ठीक ठीक त्रिपथगा गंगा। जिसकी तीन धाराओं में एक भागीरथी का नाम लेकर पाताल-लोक को पवित्र कर रही है, दूसरी सुरधुनी के नाम से मृत्युलोक को पवित्र कर रही है और तीसरी मन्दाकिनी के नाम से स्वर्गलोक को पवित्र कर रही है। यहाँ स्मरण रखना होगा कि सभी धाराओं का गोमुख के साथ पूर्ण तादात्म्य है।

अब हम देखेंगे कि उन तीन धाराओं में स्नात होकर स्वामीजी ने किस प्रकार अपने देह-मन व चेतना को परिचालित किया। इन तीनों में एक धारा है सारदा, जिसने उनकी चेतना को संजीवित कर उस पर निवास किया है। दूसरी धारा है माँ-काली, जो उनकी मन-बुद्धि का आश्रय लेकर खूब गोपनीयता-पूर्वक उनकी हृदय-गुहा में निवास करती हैं और तीसरी धारा है भारत-माता, जो उनके शरीर के अंग-प्रत्यंग को कल्लोलित कर उन्हें अस्थिर करती रहती है।

इस विवेचन को हम स्वामीजी की काली-भक्ति से आरम्भ करेंगे, क्योंकि श्रीरामकृष्ण ने उनकी गर्भधारिणी-माँ से उन्हें छीनकर जगदम्बा के चरण-कमलों में सौप दिया था; क्षुद्र सुख की गोद से उठाकर उन्हें महायंत्रणा के अग्निकुण्ड में डाल दिया था। एक समय था जब वे काली से अत्यन्त घृणा करते थे, वे ही बाद में उनके हृदय पर अधिकार कर बैठीं। उन्होंने भीषण को 'भीषण' कहकर ही प्रेम किया। वे भीषण में भी कमनीय, सौम्य-से-सौम्यतर मातृमूर्ति देखकर विह्वल हुए थे। काली ही उन्हें उनके सभी कार्यों में प्रेरणा देती थीं। श्रीरामकृष्ण के भीतर जो शक्ति थी, उसी ने उनके भीतर घुसकर उनके कर्मक्षेत्र में प्रेरणा दी। श्रीरामकृष्ण अपना सर्वस्व उन्हें देकर फकीर हो गये थे। सर्वस्व देने का अर्थ है कि श्रीरामकृष्ण के अन्दर जो काली बसती थीं, उन्हीं को देकर वे स्वयं नि:शेष हो गये थे। काली को स्वामीजी के भीतर घुसाकर श्रीरामकृष्ण ने निर्देश दिया था – "अब से माँ का कार्य करना होगा। समय आने पर फिर माँ के घर का ताला खोल दिया जायेगा।" स्वामीजी चुपचाप वही कार्य कर गये हैं। काली ही उनके सभी जागतिक कार्यों की मूल शक्ति हैं – यह जानते तथा मानते हुए भी उन्होंने उनका प्रचार नहीं किया। यही नहीं, उन्होंने किसी को भी कभी अपने जीवन के काली-रहस्य की बातें नहीं बतायीं। भगिनी निवेदिता ने पूछा था – "स्वामीजी, काली-रहस्य की बातें क्यों नहीं बताएँगे? क्या पृथ्वी पर कोई भी उसे सुनने का योग्य अधिकारी नहीं है?" स्वामीजी ने दृढ़ स्वरों में उत्तर दिया था – "ना ना।" और अपने भावावेग को छिपाने के उद्देश्य से तेज कदमों से वहाँ से चले गए। अत: वे काली को किस दृष्टि से देखते थे, इसका पूरा इतिहास हम नहीं पा सकते, तथापि बीच बीच में काली ने उनके हृदय को वेधकर स्वयं को प्रकट किया है और तब विवेकानन्द के लिए भावावेग का संवरण करना असम्भव हो उठा है। वे जगत् के लिए वेदान्त-प्रचार करते, पर स्वयं के लिए था काली, जो अति अद्भुत और गोपनीय विषय था। काली का रूप उन्होंने सिर्फ कविता में रखने का प्रयास किया है – **कोमले कठोरे अपरूपा, मृत्युरूपा दयामयी मोक्षदात्री** के रूप में।

अन्तिम दिनों में कर्मक्लान्त स्वामीजी उन्हीं माँ के भाव में विभोर रहा करते थे। कार्य समाप्त हो गया है इसीलिए घर लौटने की तैयार। और कोई शिकायत भी नहीं है कि इतनी पीड़ाओं के बीच से होकर उन्हें गुजरना पड़ा है ! इसके लिए

कोई वेदना नहीं है, कोई दु:ख नहीं है। दूसरे लोगों को पीड़ा नहीं थी, वे लोग सुख के रास्ते पर चल सके हैं, केवल उन्हीं के लिए वेदना का बोझ था और वे उसे ढोकर सार्थकता के पथ पर ले गये हैं। इसलिए वे प्रसन्न हैं, सन्तुष्ट हैं –

या मां चिराय विनयति
अति दुःखमार्गैः आसिद्धितः ... ।[१]

– "माँ मुझे दुख के पथ पर ले जाना चाहती हैं। अच्छी बात है। मैं इससे खुश हूँ। वे माँ ही मेरी एकमात्र गति हैं" –

साम्बा शिवा मम गति
सफलेऽफले वा ।

उसी गति को पाने के लिए कितनी आकुलता है, लौटने के लिए कितनी व्याकुलता है –

खोलो, द्वार खोलो,
मेरे लिए उन्हें खुलना ही होगा ।
ओ माँ ! प्रकाश के द्वार खोलो,
माँ ! तुम्हारा थका हुआ बालक हूँ मैं ।
मैं घर आना चाहता हूँ माँ !
अब मेरा खेल समाप्त हो चुका ।[२]

माँ भी उन्मुख हुई थीं – द्वार खोलकर शीघ्र ही बिना देरी किए रण-क्लान्त पुत्र को बुला लिया, तब तक वे उतनी आयु अतिक्रम नहीं कर पाये थे।

इसके बाद है स्वामीजी की सारदा-भक्ति। उनकी मातृभक्ति को यहाँ दिव्यता प्राप्त हुई है। माँ-काली यदि रूप धारण कर उनके सामने खड़ी होतीं, बातें करतीं, तो विवेकानन्द उन्हें किस भाव से देखते, किस प्रकार उनकी सेवा-पूजा करते, वही अद्भुत दृश्य यहाँ अभिव्यक्त हुआ है। यहाँ हम देख पाते हैं कि नारी के भीतर कितनी महिमा और सत्य देखना सम्भव है। श्रीरामकृष्ण ने वह दिखाया और उसे देखने के लिए दृष्टि भी स्वामीजी को ही उत्तराधिकार के रूप में वे दे गये थे। उन्होंने श्री माँ को शक्ति के रूप में ही देखा था। और वह देखना जब स्वामी विवेकानन्द करेंगे, तो उनका परवर्ती आचरण तो वही होगा, जो होने का है ! सभी जान गये और उन्होंने भी सबको बता दिया कि विवेकानन्द को तत्कालीन पृथ्वी पर यदि कोई नियंत्रित कर सकता है तो वे एक ही है और वे हैं एक नारी। और वे भी हैं एक अशिक्षित नारी। विवेकानन्द के त्रिलोक-संचारी और संहारी शक्ति की यदि कोई लगाम खींचकर रख सकता है, तो वे हैं वही शक्तिरूपिणी सारदा। श्रीरामकृष्ण के साथ तर्क करना चलता था। परन्तु सारदा देवी के साथ बातें करते समय महा-शक्तिधर प्रखर वाग्मी विवेकानन्द का भी कंठ अवरुद्ध हो जाता था। शरीर कम्पित होता रहता, क्योंकि साक्षात् पवित्रता के सम्मुख खड़े होना है। आजन्म ध्यानसिद्ध महापवित्र विवेकानन्द माँ के समक्ष जाते समय मुहुर्मुहु: गंगाजल पान करते हैं और पवित्र होने की प्रार्थना करते हैं, क्योंकि वे उन पवित्रता-स्वरूपिणी का दर्शन करने जा रहे हैं। वे ही माँ सारदा हैं, अखिल-मातृहृदय को मन्थन करने से प्राप्त हुई सुधा हैं, अत: यह उचित ही है कि सभी लोग उनके भीतर अपनी माँ को देखेंगे। विवेकानन्द भी उनके भीतर अपनी माँ को देख पाते थे। वे जीवन को भुक्ति-मुक्तिदायिनी माँ को उनके भीतर और उनके साथ देखते, स्वयं प्रकृति या महामाया नारी-रूप धारण कर विराज रही हैं। अत: यह सहज ही कहा जा सकता है कि स्वामीजी की मातृभक्ति की सर्वोच्च अभिव्यक्ति सारदा देवी के माध्यम से ही प्रकट हुई है। उनका विश्वास था कि माँ की कृपा से ही उनकी विदेश-यात्रा हुई और वहाँ उन्हें सफलता मिली है। माँ जानकी के कार्य में तल्लीन महाभक्त महावीर हनुमान के साथ अपनी तुलना करते हुए वे सोचते हैं कि बन्दिनी मातृजाति को बन्धनमुक्त करने के लिए ही उनका आविर्भाव हुआ है। इसलिए कहते हैं – पहले माँ और उनकी बच्चियाँ। माँ के सुख-सुविधा के लिए, माँ के व्यय-निर्वाह के लिए विवेकानन्द परम उदार थे, क्योंकि वे जानते थे कि माँ केवल गुरुपत्नी मात्र नहीं हैं, बल्कि गुरुशक्ति ही माँ का रूप धारण कर कार्य कर रही है।

इसीलिए माँ संघजननी हैं। आपत्ति-विपत्ति में माँ ही संघ की एकमात्र रक्षिका थीं। विवेकानन्द जब माँ को प्रणाम करते, तो धरती पर लोटकर करते और दूसरों को भी उन्होंने ऐसा ही सिखाया था। वे कहते थे – माँ जीवन्त दुर्गा हैं, महाशक्ति हैं, उन्हें केन्द्र बनाकर जगत् में सभी शक्तियाँ जन्म लेंगी, फिर गार्गी-मैत्रेयी का आविर्भाव होगा। विवेकानन्द की सारदा-वन्दना में सम्भव है कोई पारम्परिक स्तुति न हो, छन्दागार में हो सकता है कोई कविता न हो, परन्तु जो कुछ भी है वह है विषाद-श्रद्धा एवं भक्ति से परिपूर्ण। जिसकी शक्ति से वे श्री माँ की दुर्गा-बोध से दुर्गा-प्रतिमा के साथ पूजन कर सकते हैं, यह एक ऐसा उदाहरण या घटना है, जो आज भी हमें मातृ-प्रणाम तथा पूजा का आदेश दे रहा है।

अब स्वामीजी की देशभक्ति के बारे में थोड़ी चर्चा करेंगे। उनकी देशमाता वस्तुत: सब देशों की रानी हैं। न केवल आध्यात्मिकता की पूण्यभूमि है, अपितु सम्पूर्ण पृथ्वी के ज्ञान एवं सम्पदा का आगार है। निरीह हिन्दुओं की उदारता से भारतीय ज्ञान व धन का भण्डार विदेशों में भी पहुँचा। भारत की मिट्टी उनके लिए स्वर्ग है। भारत का समाज उनके यौवन का उपवन है, तरुणाई की क्रीड़ाभूमि और वार्धक्य की वाराणसी है। यह देश सचमुच ही उनके लिए माँ थी। वे कहते – भारत के सन्तान मेरे भाई हैं, मेरे रक्त हैं। भारत की पराधीनता उनके

---

१. स्वामी विवेकानन्द रचित 'अम्बा-स्तोत्रम्' के ७वें श्लोक का अंश (विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ९, पृ. ३४२)

२. स्वामी विवेकानन्द रचित 'मेरा खेल खत्म हुआ' कविता का अंश (विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १०, पृ. १७७)

लिए माँ की पराधीनता थी। माँ उन्हें बन्दी-जैसी प्रतीत होतीं। इसलिए जब जहाँ भी अवसर मिला है, उन्होंने राष्ट्रीय एकता के लिए स्वदेश-मंत्र के वज्रकण्ठ से युवकों का आह्वान किया है। भारत की वेदना उनके हृदय को व्यथित करती थी। इस व्यथा से वे सो तक नहीं पाते थे। भारत के गौरव की घोषणा करते वे कभी न थकते। वे बारम्बार भावी भारत की महिमा-घोषणा करते। मातृ-नाम जपकर हम भवसागर पार होते हैं, पर स्वामीजी हमें देशमाता को ही अपना इष्ट बनाने को कहते हैं; जो भारत हमारे लिए मिथ्या हो रहा था, उसी का जप सिखाते हैं। उन्हीं के पथ का अनुसरण कर निवेदिता अपनी छात्राओं को 'भारतवर्ष' मंत्र का जप करने को कहा करतीं। क्योंकि जगत् के लिए भारतवर्ष कोई भौगोलिक सत्ता नहीं, अपितु एक उज्ज्वल आत्मिक सत्ता है। 'भारतवर्ष' के जप करने का अर्थ है भारत की आत्मा का जप करना, इसीलिए भारत के प्रति उनकी इतनी श्रद्धा-भक्ति थी। निवेदिता ने कहा है – "The queen of his adoration was his mother-land – उनकी श्रद्धा-पूजा की पात्री थीं उनकी भारतमाता।"

अब हम विश्लेषण के अन्तिम द्वार तक आ पहुँचे हैं, जिस महीयसी नारी ने 'विवेकानन्द' नामक विभूति को गर्भ में धारण किया था, वे किस भाव से पूजित हुआ करती थीं? माँ को उन्होंने कष्ट दिया था। कहा जा सकता है कि वे संन्यास लेकर माँ को भूखमरी के बीच छोड़ गुरुदेव का कार्य करने निकल पड़े थे। घर की ज्येष्ठ सन्तान के रूप में भाई-बहन और माँ को जिस प्रकार वे छोड़ गये, वह एक दृष्टि से चरम निष्ठुरता को भी पीछे छोड़ जाता है। परवर्ती काल में विवेकानन्द के विश्व-विख्यात होने पर भी उनकी गर्भधारिणी जननी भुवनेश्वरी की निर्धनता यथावत् बनी रही। और यही वेदना सर्वत्यागी संन्यासी को असीम पीड़ा देती रही। एक पत्र में वे लिखते हैं – "बीस वर्षों तक परमहंसदेव की सेवा की, अब से जो करूँगा, वह मेरा अपना कार्य है। अब मैं अपना कार्य करने जा रहा हूँ। गुरु महाराज का ऋण मैंने प्राण देकर चुका दिया है। उनका अब कोई दावा नहीं है।"

मेरा कर्म अर्थात् माँ के लिए कर्म – अपनी माँ के लिए एक मकान बनाना। पृथ्वी पर विवेकानन्द के लिए यही अन्तिम ऋण था – 'माँ का ऋण'। और यह मातृऋण चुकाने का काम ही उन्होंने जीवन के अन्तिम दिनों में आरम्भ किया था। लगता है संन्यासी को भी मातृऋण मानना पड़ता है, कम-से-कम विवेकानन्द को मानना पड़ा है। और इसी ऋण स्वीकार के पीछे उनका विराट् हृदय का क्षत आरम्भ हुआ था। स्वामीजी ने मेरी हेल को लिखा था – अविराम आघातों के फलस्वरूप मेरा जीवन तैयार हुआ है – आघात निर्धनता का, विश्वासघात का और अपनी बुद्धिहीनता का। अद्‌भुत! विश्वासघात की मानो चरम सीमा उन्हें प्राय: सर्वदा घेरे रहती थी। रुपये-पैसे के मामले में विवेकानन्द बेहिसाबी थे – ऐसा भी आरोप उन्हें सहना पड़ा कि वे अपने लिए सब खर्च कर दे रहे हैं। इन मिथ्या आरोपों के समक्ष विवेकानन्द स्तब्ध थे। फिर अनेक दिनों तक चुप रहने के बाद वे गरज उठे थे। एक ऐतिहासिक पत्र उन्होंने स्टर्डी को लिखा था। स्वामीजी अपने व्यक्तिगत खर्च के लिए किसी व्यक्ति-विशेष या अपने प्रिय शिष्य की प्रणामी पर निर्भर करते। विदेशी मित्रों के द्वारा भारतीय कार्य में आर्थिक सहायता भेजने के बाद वे बिना देरी किये उसका हिसाब माँगते।

अस्तु। हमें समझना होगा कि विवेकानन्द निर्धन थे और इतने निर्धन कि उन्हीं की व्यक्तिगत सेवा के लिए प्रेषित कुछ रुपयों से उनका खर्च चलता। उससे माँ की निर्धनता दूर करने का प्रश्न ही नहीं उठता। अत: कैसे माँ के लिए मकान हो। और याचना से उन्हें घृणा थी। पर मातृऋण के शोधार्थ उन्होंने दीन-भिखारी की भूमिका भी अपनायी थी। उनकी मानसिक अवस्था हम उस पत्र से समझ सकते हैं, जिसके माध्यम से वे खेतड़ी राजा के द्वार पर उपस्थित हुए थे। वे लिखते हैं – "महाराज, यह जानते हुए कि आपके समक्ष मन की बात कहने में मुझे जरा भी संकोच नहीं होता, आज मैं आपके पास एक अति महत्त्व-पूर्ण व्यक्तिगत कार्य हेतु उपस्थित हो रहा हूँ। अब मैं प्राय: मृत्यु के द्वार पर हूँ। मैं आपके आश्वासन, मित्रता तथा उदारता के समक्ष एक निवेदन कर रहा हूँ। एक पाप मेरे हृदय को सर्वदा कचोटता रहता है और वह यह है कि दुनिया की सेवा करने के लिए मैंने अपनी माँ की बड़ी अवहेलना की है। और अब मेरी अन्तिम इच्छा है कि कुछ वर्षों तक माँ की सेवा करूँ। माँ अभी एक जीर्ण-शीर्ण कोठरी में है। उनके लिए मैं एक छोटा-सा घर बना देना चाहता हूँ। समझ में नहीं आता कि इसके लिए किससे प्रार्थना करूँ। यूरोप से मिले हुए सब रुपये कार्य के लिए हैं और पाई पाई तक दिया जा चुका है। मैं अन्य किसी के सामने हाथ नहीं फैला सकता। आप इसे करेंगे या नहीं – क्या आप मुझे तार द्वारा सूचित करेंगे?"

खेतड़ी के राजा गुरुसेवा करना जानते थे। वे ही राजगुरु की माँ और भाइयों की आर्थिक व्यवस्था देखते थे; उनकी माँ को १०० रु. की मासिक सहायता भेजा करते थे। राजा के जीवन काल तक उस १०० रुपये मासिक की बात लिखी है। उनके अपने खर्च के लिये रुपये कुछ सेवियर देते और कुछ मैक्लाउड भी देतीं। अन्त में बहुत परेशानियों के बाद उन्होने उधार लेकर माँ के लिए घर खरीदा। उस मकान को लेकर नातेदारों के साथ मुकदमा भी हुआ और स्वामीजी के देहान्त के ठीक पूर्व उस मुकदमे का निर्णय उन्हीं के पक्ष में हुआ। और आश्चर्य की बात यह है कि ऋण भी शोध हो गया। विवेकानन्द-सूर्य पश्चिम दिगन्त की ओर ढलने के पूर्व मानो इसी की

(शेष अगले पृष्ठ पर)

ऐश्वर्यमयी माँ

स्वामी हरिप्रेमानन्द

माँ श्री सारदा देवी दैवी मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। हमारे लिए बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

एक दिन की बात है। सन् तथा तारीख याद नहीं। और उसकी जरूरत भी क्या है? माँ की भतीजी राधू बहुत दिनों से बीमार चल रही थी। रोग से भुगतते भुगतते उसका चेहरा कंकाल-मात्र रह गया था। बातचीत करने की शक्ति नहीं रह गई थी, गले से आवाज भी क्षीण निकलती थी। माँ के मन में करुणा का उद्रेक हुआ। वे बोलीं – "हरि, तुम मेरे साथ चलो। बच्ची को लेकर बाँकुड़ा जाऊँ। वहाँ वैकुण्ठ है, एलोपैथी का एम.बी. डॉक्टर है, लेकिन होम्योपैथी चिकित्सा करता है। उसकी बड़ी प्रसिद्धि है।"

उनकी बात के बीच में ही मैं बोल उठा – "वैकुण्ठ यानी वैकुण्ठ महाराज? स्वामी महेश्वरानन्द?"

– "हाँ, हाँ। तू तो बाँकुड़ा शहर में रहता है। अवश्य पहचानता होगा।"

– "हाँ, भलीभाँति पहचानता हूँ। बाँकुड़ा मठ के महन्त हैं। होम्योपैथी के धन्वन्तरी हैं।"

– "हाँ रे, उसी की बात कर रही हूँ।"

इस प्रकार माँ अपनी भतीजी को लेकर वहाँ गयीं। मैं भी उनके साथ गया। उस समय बाँकुड़ा मठ में अधिक कमरे नहीं थे। बाहर के लोगों के, विशेषकर स्त्रियों के ठहरने के लिए बिल्कुल भी जगह न थी। इसलिए फीडर रोड पर एक छोटा मकान किराये पर लिया गया। घर में केवल दो कमरे थे। एक में मरीज को रखा गया, दूसरे में हम दोनों रहे। उस दिन संध्या के बाद डाक्टर महाराज (स्वामी महेश्वरानन्द) रोगी को देखकर लौट गए। हम लोगों के कमरे में एक छोटा स्टूल था, माँ उस पर बैठी थीं। न जाने मेरे मन में क्या आया कि मैं माँ के दोनों पैरों पर हाथ फेरने लगा। दोनों पाँव शुष्क थे, उन दिनों माँ का शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया था।

पाँवों पर हाथ फेरते समय सहसा मन में प्रश्न उठा – "माँ क्या वास्तव में जगदम्बा हैं? तो क्या जगदम्बा के पावों में यों ही शिराएँ उभरी रहती हैं?" मन में प्रश्न उठने पर भी मुँह से मैंने कुछ नहीं कहा। पैरों पर हाथ फेरता ही रहा।

धीरे धीरे मुझे अनुभव होने लगा – ये तो किसी वृद्धा के दुर्बल पाँव नहीं, अपितु एक युवती नारी के पुष्ट पाँव हैं। पास ही लालटेन जल रही थी, उसके आलोक में स्पष्ट देखा – आलता लगे अनुपम सुन्दर दोनों पाँव। पावों के घन सन्निविष्ट परिपुष्ट अंगुलियों में अर्धचन्द्र के समान नख सुशोभित हो रहे थे। दोनों चरणों में सोने के नूपुर और उन नूपुरों में मणि-मुक्ताएँ जड़ी थीं। मन में आया – "यह मैं किनकी पदसेवा कर रहा हूँ?"

विस्मय से हतप्रभ होकर मैं उनके चरणों से दृष्टि हटाकर ऊपर श्रीमुख की ओर ले गया। देखा – स्वर्णकान्ति, त्रिनयना, चतुर्भुजा, नाना अलंकारों से सुशोभित जगद्धात्री मूर्ति! सिर पर मुकुट, हाथ में अस्त्र, उनके पूरे शरीर से अनुपम ज्योति निकल रही थी। इसके पहले कि मैं उन्हें ठीक ढंग से देख पाता, मैं – 'माँ' 'माँ' – कहते हुए अचेत हो गया। पता नहीं मैं कितनी देर तक इस अवस्था में रहा! जब चेतना लौटी, तो देखा – माँ मेरी पीठ पर हाथ फेरते हुए कह रही थीं – "ओ हरि, ओ हरि, यह तुझे क्या हुआ? उठ! उठ!"

मैं उठ बैठा। देखा – दुर्बल वृद्ध शरीरवाली माँ रोग-जर्जर भतीजी की ओर निहारती हुई बैठी हैं। यही हम लोगों की जगदम्बा माँ सारदामणि, भगवान श्रीरामकृष्ण की लीलासंगिनी हैं। जय माँ! जय ठाकुर! ❑

पिछले पृष्ठ का शेषांश

प्रतीक्षा कर रहा था। स्वामीजी की इच्छा थी कि कुछ दिन माँ के पास जाकर रहेंगे, ताकि माँ के मन को शान्ति मिले। वे श्रीमती बुल को लिखते हैं – "जानती हो! शंकराचार्य को भी ठीक यही करना पड़ा था। उन्हें अपने जीवन के अन्तिम कुछ दिनों के लिये माँ के पास लौट जाना पड़ा था।" इस युग के शंकराचार्य ने इच्छा प्रकट की थी, पर जा न सके, क्योंकि अपनी माँ के जीवित रहते ही उन्होंने देहत्याग कर दिया था। विवेकानन्द हँसते हुए जग के समक्ष प्रकट हुए थे, पर उनके हृदय में आजीवन विकट पारिवारिक दुश्चिन्ता, विशेषकर माँ की चिन्ता छिपी हुई थी। मँझले भाई महेन्द्रनाथ उद्देश्यहीन थे और स्वयं संन्यासी, इस कारण माँ टूट चुकी थीं।

परन्तु हम देखते हैं कि मातृभक्त वीर द्वारा मातृऋण का शोध होते ही, एक अन्य माँ – मृत्युरूपा काली स्नेहपूर्वक उन्हें अपनी गोद में खींच लेती हैं, जिनसे वे इतना स्नेह करते थे और जिनका वे इतने दिनों से आह्वान कर रहे थे –

मृत्युरूपा मेरी माँ !
आओ माँ, आओ मेरे पास ! ❑❑❑

जीने की कला (२९)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं। उन्होंने युवकों के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी दो भागों में निकला है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। अनुवादक हैं श्री रामकुमार गौड़, जो सम्प्रति आकाशवाणी के वाराणसी केन्द्र में सेवारत हैं। – सं.)

सत्य की खोज का राजमार्ग

चार्वाक को छोड़ भारत के अन्य सभी दार्शनिक सम्प्रदायों ने सत्य की खोज की एक सर्व-स्वीकृत प्रणाली स्वीकार की थी। इस प्रणाली में शास्त्र-प्रमाण, तर्क तथा अनुभव – ये तीन चरण हैं। क्या ये आधुनिक विज्ञान द्वारा अंगीकृत निरीक्षण, अनुमान तथा प्रयोग – के सोपानों के सदृश नहीं हैं? वैसे इन दोनों के बीच एक अन्तर है।

दर्शन-शास्त्र भौतिक जगत् से सम्बन्धित तथ्यों का नहीं, अपितु मानवीय चेतना के अन्तर्जगत के तथ्यों की छानबीन करता है। मन का क्या स्वरूप है? सुख और दु:ख का क्या अभिप्राय है? जीवन का क्या अर्थ तथा उद्देश्य है? मृत्यु क्या है? मृत्यु के बाद क्या होता है? एक व्यक्ति को अन्य व्यक्ति से पृथक् करने के मूलभूत कारण क्या हैं? इन प्रश्नों का उत्तर देना या इन तथ्यों के नियामक सिद्धान्तों को पता लगाना ही उनकी छानबीन का उद्देश्य था।

ज्ञान सामान्यत: इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त होता है। वे अनुभव-जन्य ज्ञान के प्रत्यक्ष माध्यम हैं। आँख, कान, नासिका, जिह्वा और त्वचा जब पदार्थों के सम्पर्क में आते हैं, तो वे व्यक्ति को ऐन्द्रिक विषयों के अनुभव में समर्थ बनाते हैं। यह ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव का परिणाम है। पूर्व दिशा में सूर्योदय होने पर हमारी आँखें उस घटना को देखती हैं। तब यदि कोई यह कहे कि अभी प्रात:काल नहीं हुआ है, तो उसे मिथ्याभाषी कहना पड़ता है। इसी तरह जब हम कोई ध्वनि सुनते हैं, कोई सुगन्ध या दुर्गन्ध सूँघते हैं, कोई खट्टा या मीठा स्वाद लेते हैं, कुछ गर्म या ठण्डा छूते हैं, तो हम उन गुणों को धारण करनेवाले पदार्थों के अस्तित्व का निर्विवाद प्रमाण प्राप्त करते हैं। इस प्रमाण पर कोई भी विवाद नहीं करता। इसी तरह, यदि कोई पिछले जन्मों की घटनाओं का स्मरण करता है और यदि उन्हें पर्याप्त प्रमाणों से प्रमाणित किया जा सकता है, तो यह हमें एक तरह के प्रत्यक्ष ज्ञान के समान आश्वस्त करेगा।

विश्व के सभी आध्यात्मिक लोगों ने एक सर्व-शक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी तथा कृपालु ईश्वर में अपना दृढ़ विश्वास व्यक्त किया है। निस्सन्देह लोगों के धार्मिक कृत्यों और क्रिया -विधियों में प्रत्यक्ष भेद हो सकते हैं, परन्तु सभी धर्मों के लोग एक ऐसे ईश्वर में विश्वास करते हैं, जो इस संसार में प्राणियों के जन्म, वृद्धि तथा मृत्यु सम्पन्न करता है और जो ब्रह्माण्ड का सर्वोच्च शासक हैं। बिना किसी अपवाद के, सभी शास्त्र ईश्वर की शक्ति का गुणगान करते हैं। पर कभी कभी सर्वाधिक उत्साही श्रद्धालुओं को भी एक न्यायी और परम-दयालु ईश्वर की सृष्टि के रहस्य बड़े विस्मयकर लगते हैं। कुछ लोग जन्म से ही सुख तथा आनन्द का भोग करते हैं। वे स्वस्थ शरीर, सबल मन तथा इच्छा-शक्ति और अनुकूल परिवेश का सौभाग्य प्राप्त करते हैं और जीवन में उनकी अबाध उन्नति होती जाती है। परन्तु अन्य अनेक लोग मानो दुखभोग के लिए ही जन्म लेते हैं। कुछ लोग शारीरिक रूप से विकलांग, तो कुछ मानसिक रूप से अक्षम होते हैं। उन्हें अपना शेष जीवन दु:ख-कष्ट में ही बिताना पड़ता है। कुछ लोग दुख सहने में असमर्थ होकर आत्महत्या का जघन्य पाप तक कर बैठते हैं। कुछ धर्मों में यह सांत्वना दी जाती है कि यदि कोई व्यक्ति इस जीवन में दुख उठाता है, तो उसे परलोक में सुख मिलेगा। पर इससे किसी भी प्रकार समस्या का समाधान नहीं होता। ये धर्म इन कठिनाइयों, दु:खों तथा कष्टों की कोई समुचित व्याख्या नहीं प्रस्तुत करते। अब यहाँ से तर्क की भूमिका आरम्भ होती है। वस्तुत: तर्क के माध्यम से इस भौतिक जगत् में एकत्रित ज्ञात आँकड़ों के आधार पर, सामान्यत: अबोधगम्य चीजों को समझने के प्रयत्न किए जाते हैं।

"बिना बीज के कोई पेड़ नहीं होता और बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता" – यह विज्ञान का एक निर्विवाद नियम है। कार्य और कारण भिन्न भिन्न मानना उचित नहीं है। कारण प्राय: सूक्ष्म रहता है, पर कार्य प्रत्यक्ष-गोचर होता है। सामान्य प्रेक्षक कार्य और कारण के बीच उचित सम्पर्क-सूत्र को समझ पाने में असमर्थ रहता है। यदि कोई बच्चा कहता है, "पहले तो आम हरे रंग का था, अब यह पीला क्यों है?" आप कह सकते हैं – "कच्चा रहने पर आम का फल हरा होता है और पकने पर पीला हो जाता है।" पर यह तो केवल वर्णन है, कारण की व्याख्या नहीं। यदि हम कहते हैं, "कार्बो-हाइड्रेट्स को फ्रक्टोज में परिणत करनेवाली रासायनिक प्रतिक्रियाएँ इस रंग-परिवर्तन के लिए जिम्मेदार हैं।" तो कुछ हद तक कारण बताना होता। वैज्ञानिक-प्रवृत्ति-सम्पन्न सभी शोधक किसी विशेष वस्तु की वर्तमान अवस्था का कारण उस वस्तु के भीतर ही ढूँढ़ने की चेष्टा करते हैं। 'कार्य' के पहले विद्यमान रहनेवाली एक अप्रकट अवस्था को 'कारण' कहते हैं। कार्य कारण का

प्रत्यक्ष-गोचर रूप है। इससे हमें कार्य और कारण के बीच सम्बन्ध की थोड़ी धारणा हो जाती है। वस्तुत: विशालकाय वट वृक्ष एक लघु बीज में ही छिपा रहता है। मिट्टी, जल, वायु और सूर्य के प्रकाश से आवश्यक पोषण को आत्मसात् करके बीज एक शक्तिशाली वृक्ष बन जाता है। एक लघु वस्तु विशाल में परिणत हो गयी। पौधे की हर जाति मिट्टी, जल, वायु और सूर्य के प्रकाश के उन्हीं निर्धारित स्रोतों से अपना पोषण प्राप्त करके विकास के अपने ही नियम के अनुसार वृद्धि को प्राप्त होती है। नीम का बीज बोकर हम उससे आम का पौधा होने की आशा नहीं कर सकते। 'कारण' को हम 'कार्य' के रूप में अभिव्यक्त होने से नहीं रोक सकते। प्रत्यक्ष-गोचर कार्य सर्वदा एक अदृश्य कारण का फल होता है। यह बात तर्क पर आधारित है तथा वैज्ञानिक ढंग से की गई खोजों की प्रणाली के अनुसार है।

एक बालक था, जो ठीक ठीक बोलना सीखने के पहले ही अन्य लोगों द्वारा गाये हुए गीतों के सुरों को पहचान सकता था। वह करीब २००० सुरों को पहचान लेता था। उसके इस गुण के स्रोत के बारे में भला कोई कैसे जान सकता था? किसी विषय का ज्ञान या उसमें निपुणता सजग प्रयत्न तथा अभ्यास से प्राप्त होती है। इस बालक के मामले में, उसके पास यह निपुणता अर्जित करने का कोई मौका ही नहीं था। तो फिर उसने यह कौशल कैसे प्राप्त कर लिया? क्या हमें उसके ज्ञान के स्रोत की खोज उसके मन की गहराई में करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए?

यदि हम इस बात को मानते हों कि कुछ विशिष्ट गुण तथा क्षमताएँ पूर्व-जन्मों में अर्जित हैं, तो स्वेच्छापूर्वक किये गये अच्छे व बुरे कार्यों का उसे प्राप्त होनेवाले सुख तथा दुख से सम्बन्ध है – इस तर्कसंगत सिद्धान्त को क्षति पहुँचाए बिना ही हम अपना निष्कर्ष निकाल सकते थे। अपनी सत्य-विषयक धारणा को तार्किक रूप से सुदृढ़ करने की यह एक प्रणाली है। यह प्रणाली आगे चलकर वैज्ञानिक छानबीन का विषय बन सकता थी। विश्व के सभी देशों में और सभी युगों में ऐसे महापुरुषों का आविर्भाव हुआ है, जिन्होंने परम सत्य की प्राप्ति के लिए परम व्याकुलता, आजीवन तपस्या तथा साधना के बाद अतीन्द्रिय अनुभूतियाँ प्राप्त कीं। सम्भव है उन्होंने अपना प्रचार न किया, पर ऐसे लोग अब भी विद्यमान हैं। ये ऐसे महापुरुष हैं, जो सत्य की अनुभूति के लिए निरन्तर संघर्ष करते रहे, जिन्होंने अपनी सांसारिक कामनाओं का त्याग कर दिया, जो अपने सभी कार्यों में दया-भाव तथा मानवता के कल्याणार्थ प्रयत्नशील रहने के सु-भाव से अनुप्राणित थे। आध्यात्मिक अनुभूतियों में उनका पगा होना ही उनके सच्चे त्याग, समर्पण, पवित्रता, सेवाभाव, विवेक तथा शरणागति की व्याख्या करता है। **सम्भव है उनके उपदेश खूब विद्वतापूर्ण न हों, परन्तु ये उनके जीवन रूपी पुस्तक के पृष्ठ होते हैं।**

यदि हम किसी धर्म के मूल उद्भव पर विचार करें, तो पता चलता है कि हर धर्म ठोस अनुभूति पर टिका होता है। महान् ऋषि दृढ़ स्वर से कहते हैं कि उन्होंने कुछ ऐसे महान् सत्यों की खोज कर ली थी, जिसका अनुभव इन्द्रियों के माध्यम से नहीं किया जा सकता। फिर भी इस बात पर बल दिया जाता है कि यदि कोई व्यक्ति ईमानदारी और निष्ठापूर्वक उस पथ का अनुसरण करे, तो वह भी उस सत्य की अनुभूति कर सकता है। हमारे प्राचीन ऋषियों द्वारा अनुभूत सत्यों को 'श्रुति' कहा जाता है। उसमें निहित महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक सत्य सार्वभौमिक हैं।

हम सभी अपने जीवन में इन सत्यों की अनुभूति कर सकते हैं। सत्य की अनुभूति करके मनुष्य सब प्रकार के दु:खों से मुक्त होकर परम मुक्ति और सर्वोच्च आनन्द की योग्यता प्राप्त कर लेता है। कहते हैं कि यह पूर्ण मुक्ति ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है।

चमत्कारों के पीछे का सत्य

दार्शनिक अन्वेषण की प्रणालियों में – शास्त्रीय प्रमाण, तर्क तथा अनुभूतियों का अध्ययन किया जाता है। परम सत्ता का स्वरूप मन के परे होने के कारण, शास्त्र एक कामचलाऊ अवधारणा प्रदान करते हैं, जिसकी तर्क द्वारा परीक्षा तथा आन्तरिक अनुभूति के द्वारा उपलब्धि की जानी चाहिए। युक्तिसंगत शोध के बिना केवल शास्त्रीय प्रमाण पर निर्भरता किसी भी दार्शनिक या धार्मिक प्रणाली को कट्टर, एकाधिकारवादी और अनन्यतामूलक बना देती है। कोरा तर्क इच्छाओं का यौक्तिकीकरण भी हो सकता है। शास्त्रों तथा तर्क से अप्रमाणित

अनुभूति अपने ही उपचेतन मन का प्रतिबिम्ब हो सकता है। परन्तु जब ये तीनों एक ही निष्कर्ष की ओर संकेत करने लगें, तो कोई व्यक्ति सत्य तक पहुँचने के बारे में आश्वस्त हो सकता है। देहान्तरण और पुनर्जन्म के नियम के सत्यापन के लिए भी इसी मापदण्ड को लागू किया जा सकता है। आधुनिक परा-मनोविज्ञान भी पुनर्जन्म के नियम को एक तथ्य के रूप में सिद्ध करने के यथेष्ट प्रमाण प्रदान करता है।

सार्वभौमिक नियम

कर्म-सिद्धान्त के अनुसार जीवात्मा जन्म तथा मृत्यु के अनेक चक्रों में संघर्ष करने के बाद क्रम-विकास के उच्चतर सोपानों तक पहुँचती है। डार्विन के क्रम-विकासवाद के सिद्धान्त को युक्तिसंगत माननेवालों के लिए पुनर्जन्म के सिद्धान्त में क्रम-विकास की प्रक्रिया को समझना कठिन नहीं होगा। इस महत्त्वपूर्ण दृष्टि से डार्विन के क्रम-विकास के मूलभूत सिद्धान्त को भारतीय कर्मवाद और भी आगे ले जाता है –

१. क्रम-विकास प्राणियों के बाह्य रूपों तक ही सीमित नहीं है। इसमें प्राणियों में उनकी चेतना या आत्मबोध का क्रमविकास भी सम्मिलित है। दूसरे शब्दों में, कर्मवाद और पुनर्जन्म के नियमों का उद्देश्य मानव-जाति का मानसिक और आध्यात्मिक क्रम-विकास है।

२. क्रम-विकास प्रक्रिया में उन्नति का सम्बन्ध मन और आध्यात्मिक विषयों से है।

भौतिक-विज्ञान के नियमों की भाँति ही कर्म और आत्मा के देहान्तरण का नियम भी 'कार्य-कारण के बीच सम्बन्ध' के सिद्धान्त के आधार पर परिचालित होता है। उदाहरणार्थ – व्यक्ति जब जन्म लेता है, तब अपने पूर्व जन्मों के अच्छे या बुरे कार्यों के संचित परिणामों को धारण कर लेता है। इस प्रकार व्यक्ति मानो स्वयं द्वारा ही निर्मित और चयनित संसार में पहुँच जाता है। जिना सर्मीनारा कहते हैं, "मेरे सुपरिचित प्रोटेस्टेंट पुरोहित आधुनिक विचारों और विश्लेषण-पद्धतियों में रुचि रखनेवाले एक उदारचेता व्यक्ति थे। उन्होंने पुनर्जन्म के सिद्धान्त का गहन अध्ययन किया था। एक बार मैंने उनसे पूछा, 'क्या आपने अपने व्याख्यानों में कभी कर्म और पुनर्जन्म के नियम के बारे में कुछ कहने का साहस किया है?' उन्होंने कहा, 'हाँ, कभी कभी, परन्तु बड़ी सजगता से। पिछली बार मैंने इसकी तुलना अपने ईसाई धर्ममत के नरक की अवधारणा के साथ की थी। परन्तु उस पर विश्वास करने या न करने का निर्णय मैंने श्रोताओं पर ही छोड़ दिया था।' "

यह सचमुच ही एक साहसिक कदम था। ऐसे बयान देने के दुस्साहस करनेवाले ईसाई पादरी चर्च के धर्माचार्यों के क्रोध को आमंत्रण दे सकते हैं। उन्हें धर्म-बहिष्कृत होने के खतरे का सामना भी करना पड़ सकता है। कुछ वर्षों पूर्व तक तो ऐसे बयान धर्मविरोधी मान लिए जाते थे और इसके लिए कैद या मृत्युदण्ड तक की सजा दी जाती थी।

सुविख्यात् अँग्रेज लेखक पॉल ब्रन्टन ने कहा था कि यदि पाश्चात्य समाज और संस्कृति को जीवित बचना है, तो वहाँ के लोगों को कर्म-सिद्धान्त की शिक्षा देनी चाहिए। अर्थात् यह सिद्धान्त समाज-व्यवस्था को अति भोग-परायणता तथा स्वेच्छा-चारिता से बचाने में मदद करेगा। यह संयम और आत्म-नियंत्रण के अभ्यास में भी लोगों की मदद करेगा। चर्च और ईसाई धर्म के अनुयायी लोग प्राच्य अन्धविश्वास कहकर इसे व्यापक रूप से अस्वीकार करते हैं। परन्तु, एक अनुमान के अनुसार अमेरिका का हर चौथा नागरिक इस कर्म-सिद्धान्त को स्वीकार करता है। इंग्लैंड का 'संडे टेलीग्राफ' एक अपेक्षाकृत अनुदारवादी (कट्टर) समाचार-पत्र है। इसके द्वारा किए गए एक सर्वेक्षण के अनुसार गत १० वर्षों में ब्रिटेन में कर्मवाद तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास करनेवालों की संख्या १८ से बढ़कर २८ प्रतिशत हो गई है। १९८७ ई. में रोजर जे. वूल्गर नामक एक मनोवैज्ञानिक ने "अन्य जीवन, अन्य आत्माएँ"* नामक एक पुस्तक लिखी। वे सी. जी. युंग द्वारा विकसित प्रणाली पर कार्य करनेवाले एक मनो-चिकित्सक थे। वे कहते हैं कि हमारा अवचेतन मन कोई भी चीज नहीं भूलता। उन्होंने ऐसे अनेक अध्ययन प्रकाशित किये, जिनमें पूर्वजन्मों की स्मृतियाँ जगाकर मानसिक रोगियों का उपचार किया गया था। वे कहते हैं कि अगले १० वर्षों में संसार में ऐसे अनेक चिकित्सालय होंगे, जहाँ पूर्वजन्मों की स्मृतियों को जगाकर रोगियों का उपचार किया जायेगा।

यदि औषधि-विज्ञान की आधुनिक प्रणाली द्वारा इस प्राचीन सत्य को एक सार्वभौम नियम के रूप में स्वीकार कर लिया जाय, तो हम लोग एक ऐसे भविष्य की आशा कर सकते हैं, जब संसार में आजकल व्याप्त घृणा, हिंसा और स्वेच्छाचारिता की शक्तियों का विनाश हो जायेगा और सम्पूर्ण मानव समाज सत्य व शान्ति के पथ पर अग्रसर होने के लिए प्रेरित होगा।

❖ (क्रमशः) ❖

* "Other Lives, Other Selves A Jungian Psychotherapist Discovers Past Lives", Roger J Woogler, Bsntam Books.

मानवता की झाँकी (११)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी ने 'मानवता की झाँकी' नाम से अपने भ्रमण के दौरान हुए उत्कृष्ट अनुभवों को लिपिबद्ध किया था, जो रामकृष्ण कुटीर, बीकानेर से प्रकाशित हुई। इन प्रेरक व रोचक घटनाओं को हम क्रमशः प्रकाशित कर रहे हैं। – सं.)

अमरनाथ-यात्रा की दिव्य स्मृतियाँ

परिव्राजक संन्यासी श्री अमरनाथ दर्शन की इच्छा से रावलपिण्डी तक आ पहुँचा था, पर आगे काश्मीर तक पहुँचने का राह-खर्च पास में न होने के कारण रावलपिण्डी में आकर अटक गया था। वहाँ सन्तों के आश्रम-स्वरूप 'रामबाग' में ठहरा, इस रामबाग में अच्छी व्यवस्था है – १०-१२ साधु-संन्यासियों के ठहरने हेतु पक्की कुटियाँ बनी हुई हैं और शाम को एक बार भरपेट भोजन दिया जाता है। दिन के समय शहर में जाकर भिक्षा ली जा सकती है। पंजाबी-सत्र में अन्न-दान भी होता था, समय पर पहुँचने से मिल जाता था। और भी सुविधाएँ थीं (रावलपिण्डी अब पाकिस्तान में है)।

संन्यासी अपने मन की इच्छा को दबाकर वहीं ठहर गया। उसके परिचित दो-तीन अन्य सन्त भी अमरनाथ-यात्रा के उद्देश्य से वहाँ आकर ठहरे और साथ चलने का आग्रह भी किया, पर संन्यासी ने मना कर दिया क्योंकि उनके पास मात्र इतना ही पैसा था जिसमें उसका अपन खर्च चल सके।

तभी एक दिन तीन सद्-गृहस्थ वहाँ आए। वे अमरनाथ जानेवाले थे और आनन्द-भोज देने के लिए रामबाग आए थे। उन लोगों ने संन्यासी तथा अन्य सन्तों को भी आनन्द-भोज में शामिल होने का निमंत्रण दिया। सभी लोग मिलकर भोजन करते हुए अमरनाथ-यात्रा की कठिनाई आदि पर चर्चा करने लगे। उनमें से सबसे वयोवृद्ध सज्जन ने संन्यासी से पूछा, "क्यों महाराज, आपको अमरनाथ नहीं जाना है?"

– "इच्छा तो थी, मगर ..."

– "तो हमारे साथ चलिए न। रास्ते में सत्संग करते हुए चलेंगे, बड़ा अच्छा रहेगा।"

दूसरे सज्जन – "हाँ, हाँ, यह बहुत अच्छा रहेगा, चलिए स्वामीजी, हम कल ही जा रहे हैं, यहाँ से बारामूला फिर वहाँ दो-चार दिन आराम करके पहले श्रीनगर और उसके बाद अमरनाथ, चलिए आप भी। हमने एक पूरी लारी ही रिजर्व करा ली है, इसलिए कोई तकलीफ नहीं होगी, चलिए।"

संन्यासी – "बार बार काश्मीर आना सम्भव नहीं होता, इसलिए पैदल चलकर जाने का विचार है। पूरे कश्मीर प्रदेश का परिभ्रमण हो जाएगा और अमरनाथ-दर्शन भी।"

वृद्ध सज्जन ने कहा – "अहा, बड़ा अच्छा विचार है। क्यों भाइयो, हम भी पैदल ही चलें, तो कैसा रहेगा? स्वामीजी के साथ रहेंगे, पूर्वकाल में लोग जैसे तीर्थ-भ्रमण किया करते थे, वैसे ही हम भी करें, तो कैसा रहेगा!" सभी एक साथ बोल उठे, "बहुत अच्छा रहेगा, हम सब तैयार हैं, बड़ा मजा रहेगा और अमरनाथ से पैदल ही वापस भी लौटेंगे।"

संन्यासी ने कहा – "बहुत अच्छी बात है, परन्तु एक नियम होना आवश्यक है और वह यह कि बीच में से कोई अलग नहीं जा सकेगा। वैसे कोई बीमार पड़ जाय, तो अलग बात है। और साथ में केवल उतनी ही चीजें ली जा सकेंगी, जितनी स्वयं ही उठाई जा सकें।"

वृद्ध बोले – "बिल्कुल ठीक बात है, ऐसा ही होगा। साथ में एक एक पतली लोई की चादर, एक दरी या कम्बल और पहनने के लिए दो जोड़ी कपड़े, पहेरान और एक लोटा – बस और क्या? इतने से ही तो हो जाएगा, क्यों जी?"

– "हाँ जी, इतना ही काफी होगा" – कहा मण्डली के व्यवस्थापक भक्तजी ने (बाद में संन्यास लेकर इन्होंने कनखल के निरहंकारी अखाड़े में निवास किया था)।

अगले दिन सुबह को सभी एक साथ यात्रा के लिए तैयार हुए। पहले तो मरी (Murree) होकर जाने का विचार किया, बाद में वयोवृद्ध श्री हरिशा हजाराजी (आयु ७२) ने तक्षशिला, ऐबटाबाद होते हुए जाना और मरी होकर लौटने का निश्चय किया। सभी सहर्ष राजी हो गये। संन्यासी भी यह सोचकर मन-ही-मन खुश हुआ कि तक्षशिला देखने को मिलेगी।

रेलगाड़ी से तक्षशिला पहुँचे, तो बौद्धयुग की एक अपूर्व कीर्ति के भग्नावशेष देखकर सब आश्चर्य-मुग्ध हो गए। मिट्टी के नीचे से खोद-खोदकर मन्दिर-मूर्तियाँ-मकान-रास्ते आदि निकाले गये हैं और अब भी (१९२३ ई.) निकाल रहे हैं। तांबे और मिट्टी की बनी हुई बहुत-सी सुन्दर वस्तुएँ मिली हैं, जो उस काल की सभ्यता की उत्कृष्ट व्यंजक हैं। अहा, बौद्धयुगीय भारत ने कितनी महान् प्रगति की थी। और कहाँ आज की हमारी दयनीय दशा!

हरिपुर होते हुए हम लोग ऐबटाबाद पहुँचे थे, और वहाँ से किसी दिन १२ तो किसी दिन १५ मील पैदल चलते हुए बारामूला पहुँचकर ही ४-५ दिन आराम लिया गया। बाद में श्रीनगर में तब तक ठहरे थे, जब तक कि श्री अमरनाथ-यात्रा के लिए तम्बू आदि का इन्तजाम नहीं हो गया। ऐबटाबाद में सिक्खों के नव-निर्मित गुरुद्वारे में ठहरने की व्यवस्था हुई। वृद्ध श्री हरिशाजी के परिचित प्रबन्धकों ने खूब खातिर-पूर्वक

ठहराया और उन्होंने ही भोजन का प्रबन्ध भी किया। रात में सोने के समय संन्यासी ने देखा कि वृद्ध श्री हरिशा ने भी पास ही बिस्तर लगाया है और संन्यासी की अपेक्षा में बैठे हैं।

– "क्यों भगत जी, आप अभी तक जागते हैं? थक गए होंगे, अब सो जाइए।"

भगत जी जरा मुस्कुराए और पास आकर संन्यासी के पैर दबाना शुरू कर दिया।

– "अरे यह क्या करते हैं! आप इतने वयोवृद्ध और दादाजी की उमर के हैं। यह क्या कर रहे हैं? छोड़ दीजिए।"

पर भला कौन छोड़नेवाला था? उन्होंने हँसते हुए अपना काम जारी रखा। संन्यासी ने हाथ हटाने की चेष्टा की, लेकिन वह तो लोहे से बने हुए मजबूत पंजे की पकड़ थी। दूसरे सज्जन (ये सभी पंजाब के ही अमृतसर, लाहौर, जालन्धर, लुधियाना, पेशावर, रावलपिण्डी आदि स्थानों के थे) बोले – "स्वामीजी, कोशिश छोड़िए, उनको आप हटा नहीं सकेंगे, उनके मन में जो है, वही करेंगे।" संन्यासी भी क्या करता, हारकर लेट गया और भगत जी ने सारा शरीर खूब दबाने के बाद कहा – "स्वामीजी, अब आप थक गए हैं, खूब नींद आएगी। यह अपना शरीर कसा हुआ है, पहले फौज में काम किया है, इसलिए इतने से थकता नहीं। नमस्कार!" फिर सो गये। बस अमरनाथ से रावलपिण्डी तक, रास्ते-भर भगत जी ने एक दिन भी पूरा शरीर दबाना छोड़ा नहीं था। यह उन्होंने अपने एक अनिवार्य कर्तव्य में परिणत कर लिया था।

रास्ते में चलते समय भी भगतजी संन्यासी के साथ ही रहने लगे और पड़ाव में भी साथ शयन करने लगे। बोलते बहुत कम थे, किसी चर्चा में नहीं उतरते। पूछने पर औरों को दो-चार शब्दों में उत्तर दे दिया करते। खाने को जो मिला, सोने को जैसी जगह मिली, उसी में खुश रहते। कभी भी नाराजगी नहीं दिखाते। हर रोज शाम को भगवत्-चर्चा होती।

बाद में और दो सन्त आ मिले। ये निराकारी (निरंकारी) अखाड़े के शिष्य थे। साथ में था श्रीमद्-भागवत। नित्य शाम को भोजनादि समाप्त होने के बाद पाठ हुआ करता और उस प्रसंग में चर्चा भी हुआ करती। श्री हरिशा जी श्रोताओं में ही रहते, कभी कुछ प्रश्न आदि नहीं करते।

इस यात्रा के दौरान भोजन एक ही समय बनता। सुबह से चलने के बाद जहाँ पड़ाव डाला जाता, वहीं रोटी बनती, बाकी सुबह का नाश्ता और रात का दूध – जहाँ भी मिलता वही खा लेते। हर गाँव में, हमेशा सिक्ख-पंजाबी गाँववालों की ओर से ही भोजन मिलता रहा – तीर्थयात्रियों को वे बनाने ही नहीं देते थे। और किसी सड़क पर, आये हुए गाँव से दूर चट्टी या दुकान या धर्मशाला आदि में ठहरने पर, जो उमर में छोटे और रसोई जानकार थे, वे ही मिलकर पका लेते थे।

डूमेल से ऊपर एक जगह पर एक छोटे-से यात्री-निवास में ठहरना हुआ। वहाँ पानी लगभग आधे मील दूर – नीचे नदी के पास से लाना पड़ता था। उस रोज सभी खूब थके हुए थे, कारण एक तो काफी दूर तक और वह लगभग सारे रास्ते भीगते हुए चलना पड़ा था। इससे सभी को खूब थकावट का अनुभव हो रहा था। अब रसोई के लिए इतने नीचे से कौन पानी भरकर लावे? इनमें से सब-के-सब अच्छे व्यापारी व सुखी कुटुम्बी थे, उनके लिए एक घड़ा पानी लेकर पहाड़ में करीब आधे मील चढ़ाई करना कोई मामूली बात नहीं थी। युवकों के बीच – "तू जा, तू जा" – ऐसा चल रहा था, पर कोई उठता नहीं था। श्री हरिशाजी नित्य के नियमानुसार संन्यासी को मसलकर चंगा बना रहे थे और उस दिन तो इसकी खास जरूरत भी थी, क्योंकि संन्यासी देवानुग्रह से मृत्यु मुख से बच गया था, जिससे शरीर व मन पर घटनाओं की प्रतिक्रिया ने असर कर बेचैनी सी पैदा कर दी थी।

लगभग सुबह से ही संन्यासी के मन में एक प्रकार की उदासीनता आ गई थी और ऐसा लग रहा था कि आज अन्तिम दिन है, इसलिए सबके साथ न चलकर वह अपने भाव में तल्लीन हो अलग ही चलना पसन्द कर रहा था। पर श्री हरिशाजी साथ छोड़ना चाहते नहीं थे। "आज मुझे अलग छोड़िए, मैं धीरे धीरे चलूँगा, अपना कुछ विचार एकदम निःसंग होकर चलने का है, बातचीत या प्रसंग अच्छा नहीं लग रहा है" – संन्यासी के ऐसा कहने पर उनके मन में आया कि कोई कारण बन गया होगा जिससे ये नाराज हुए हैं और शायद मण्डली को छोड़कर चले जाने का विचार ही कर रहे हैं। पर बात तो और थी। तब उन्होंने एक युक्ति निकाली – "आप आगे आगे चलिए, हम सब पीछे पीछे चलेंगे।"

संन्यासी ने मान लिया और आगे आगे चलने लगा। खूब बारिश शुरू हो गई और जब उसी तेज वर्षा में भीगते हुए सब लोग लगभग ६-७ मील चले आए, तो एक स्थान पर देखा कि एक मोटर-बस फिसल कर एक मील भर गहरी खाई में गिरकर चूर चूर हो गई है। चालक (ड्राइवर) सहित सभी यात्री मारे गए हैं। उनका सारा सामान अस्त-व्यस्त पड़ा था। रास्ते पर काम करनेवाले मजदूरों में से दो-एक जन रस्सी के सहारे नीचे खाई में उतरकर मुर्दों को खींच-खींचकर निकाल रहे थे। अरे यह क्या! एक छोटी-सी (शायद महीने भर की) बच्ची जी रही थी। उसे जरा भी चोट नहीं आयी थी। वह मरकर औंधी पड़ी हुई अपनी माँ की छाती से लिपटी हुई थी। देखो, परमेश्वर की माया! १७-१८ यात्रियों में से एक वह बच्ची ही जीवित निकली।

एक मोटर-टैक्सीवाला और वहाँ आया हुआ था। एक पुलिस का सिपाही उसे लेकर श्रीनगर चले गए। (बाद में पता चला कि महाराजा साहेब ने उसे राजमहल में मँगवाकर देखा

और वहीं रख लिया था।) अपनी मण्डली के साथ संन्यासी ने यह सब देखा। बस जिधर से फिसलकर नीचे गिर गई थी, उधर से खाई में नीचे उतरने का कोई रास्ता नहीं था। करीब आधा मील चक्कर काटकर दूसरी ओर जाने पर भी उस गहरी खाई में उतरने का मार्ग नहीं मिला। यही कारण था कि मजदूर एक पेड़ में रस्सी बाँधकर उसी के सहारे नीचे उतरे थे।

इस दृश्य ने सबके मन को दुख-शोक से हिलाकर रख दिया। संन्यासी भी खूब अन्तर्मुख होकर सोचता हुआ चलने लगा – यह ईश्वर की कैसी लीला है! इतनी कोमल बच्ची बच गई! उसका भाग्य न जाने कैसा है, आदि आदि!

एक-डेढ़ मील चला होगा, (बारिश चालू थी) इतने में ऊपर पहाड़ धँसा। मिट्टी, पत्थर, बड़े बड़े रोड़े एकदम रास्ते पर गिरने लगे, भयंकर वेग से इधर-उधर बिखरने लगे। सामने के आने-जानेवाले लोग – "भागो, भागो" – कहकर चिल्लाने लगे। पर कोई कहाँ और कैसे भागता! चारों ओर मानो मिट्टी-पत्थर की वर्षा होने लगी, संन्यासी स्थिर होकर रास्ते के बीच खड़ा रहा, ऊपर-नीचे सामने-पीछे मुँह के पास से भी कंकड़-पत्थर रोड़े-मिट्टी वेग से पड़ते रहे। सोचता रहा – एक पत्थर लगने से ही मौत आ जायेगी या सिर-नाक-कान या किसी अंग को भयंकर चोट आयेगी। बस, ईश्वरेच्छा शायद यही होगी, जय भगवान! तेरी इच्छा पूर्ण हो! ...

परन्तु, ... आश्चर्य की बात तो यह थी कि एक कंकड़ भी शरीर पर आकर नहीं पड़ा, न शरीर पर मिट्टी-कीचड़ ही लगा, केवल जूते में थोड़ी कीचड़ लगी और नीचे के कपड़े में कुछ छींटे, बस। परन्तु दोनों तरफ मिट्टी व पत्थर का ढेर लग गया था – इतना ऊँचा कि संन्यासी को रास्ते के दोनों बाजू के आदमी – पथयात्री देख नहीं पाते थे।

सबने सोचा कि वह मिट्टी में दब गया होगा, शायद प्राण भी निकल गये होंगे – मण्डली के सहयात्री भी खासकर श्री हरिशाजी यही सोच रहे थे। जब मिट्टी-पत्थर गिरना बन्द हुआ, तो सब दौड़कर उधर आ पहुँचे और देखा – संन्यासी बीच में स्थिर-अनाहत खड़ा है। जय भगवान! ऊपर से आनेवाले एक सिक्ख ड्राइवर ने सर्वप्रथम मिट्टी के ढेर के उस ओर के एक बड़े पत्थर पर से संन्यासी को देखा और अपनी पगड़ी फेंककर उसे पकड़कर ढेरी पार करने को कहा। संन्यासी जब पार जाने का प्रयत्न कर रहा था, इतने में मण्डलीवाले दो-चार जन आ पहुँचे और – "इधर आइए महाराज" – कहकर बुलाने लगे। संन्यासी ने कहा – "बस आगे ही जाना है, पीछे नहीं" और सिक्ख के सहारे मिट्टी के ढेर लाँघकर फिर सड़क पर पहुँच गया।

रास्ता साफ करनेवाले मजदूर उधर दौड़ते आए और मोटर-गाड़ियाँ जाने का मार्ग कर दिया। मण्डलीवाले भी आ पहुँचे। श्री हरिशाजी ने तो संन्यासी को एकदम प्रेमालिंगन में जकड़ लिया – जय भगवान! आपकी रक्षा उन्होंने ही की है! सब कोई परमेश्वर की अपार दया की बात ही करते हुए पुनः पथ चलने लगे और पूर्वोक्त यात्री-निवास में ही जाकर ठहरे।

जब पानी के लिए – 'तू जा, तू जा' – चल रहा था, तो श्री हरिशा जी ने चुपचाप उठकर एक भारी घड़ा उठा लिया और पानी लाने चल दिए। तब तीन-चार जवान सहयात्री उठ दौड़े और "शा जी, आप यह क्या कर रहे हैं, हम जाते हैं, आप छोड़ दीजिए" – पर शा जी का तो मूक जबाब और उनके हाथों से घड़ा छुड़ाने की ताकत किसी में भी न थी। जोर- आजमाइश करने पर भी वे अटल रहे। बाद में व्यवस्थापक भक्तजी बीच में पड़े और कहा, "अब तुम्हारी चेष्टा व्यर्थ है, तुममें छुड़ाने की ताकत नहीं है, जाने दो और आइन्दा फिर कभी ऐसी ढील मत करना। शा जी कुछ बोलते नहीं हैं, पर सब ध्यान रखते हैं और इतना सामर्थ्य रखते हैं कि तुम्हारे जैसे ४-५ को मिनट में काबू कर लें। काम भी सब आता है, इसलिए बिल्कुल बेपरवाह हैं, जो काम करने में तुम देरी करोगे, उसे वे झट कर लेंगे और कभी हाथ लगाने से हटेंगे नहीं। अब देखो कितने शरम की बात है, उमर में सबसे बड़े हैं और धन-दौलत-मान-सम्मान में भी आप सबसे अधिक हैं, ऐसे व्यक्ति को हम लोगों के रहते हुए भी आज पानी भरने को जाना पड़ा। आइन्दा कभी भी ऐसा मत करना।"

संन्यासी ने कहा – "भगत जी, आप ड्यूटी लगा दीजिए। सब बारी बारी से काम किया करें, इससे 'तू जा, तू जा' की

पुरखों की थाती

अप्रियस्यापि पथ्यस्य परिणामो सुखावहः।
वक्ता श्रोता च यत्रास्ति रमन्ते तत्र सम्पदः।।

– अस्वस्थता के दौरान पथ्य यदि कड़वा लगता हो, तो भी उसका परिणाम सुखकर होता है। जहाँ अप्रिय सलाह देने तथा सुननेवाले विद्यमान होते हैं, वहीं सारी सम्पदाएँ निवास करती हैं।

अयुक्तं स्वामिनो युक्तं युक्तं नीचस्य दूषणम्।
अमृतं राहवे मृत्युः विषं शङ्कर-भूषणम्।।

– महापुरुष अनुचित भी करें, तो भला फल देता है और नीच लोग उचित भी करें तो बुरा फल देता है, जैसे राहु के लिए अमृत भी उसका काल सिद्ध हुआ, जबकि शिवजी के लिए विष भी आभूषण बन गया।

बात नहीं उठेगी। आज इतने लोग यह काम करेंगे, कल फिर अन्य लोग – इस प्रकार बारी लगा देने से अच्छा रहेगा, खास जरूरत हो तो सब मिलकर काम पूरा करेंगे। आप ऊपर से जरा इस बात पर ध्यान रखिए, बस, सब ठीक चलेगा।"

भगतजी ने यह बात मान ली और आगे कभी भी काम के लिए तर्क-वितर्क या कोई गड़बड़ नहीं हुआ था।

मण्डली जब बारामूला से सात मील दूर थी, तभी वहाँ के एक सज्जन प्रेमी व दानवीर सिक्ख (शायद श्री सन्त सिंह नाम था), जो खासकर श्री हरिशाजी से सुपरिचित थे, उनके साथ व्यापारिक सम्बन्ध भी था, दर्जन भर ताँगों के साथ स्वागत करने के लिए आ मिले। सबको बैठना पड़ा और ताँगेवाले जोर से हाँकने लगे। तीन साधु-संन्यासी भी, एक ताँगे में बैठे। वह घोड़ा तो सीधा चलता ही नहीं था। हाल यह हुआ कि गाड़ी कभी तो बिल्कुल नदी के किनारे चली जाती और कभी इधर के नाले व पोपलर वृक्षों से घिसने लगती। संन्यासी बारम्बार ताँगेवाले से सावधान होकर धीरे चलाने के लिए कह रहा था, पर वह मियाँ सुनता नहीं था, या फिर वह घोड़े को काबू में नहीं रख पाता था। इतने में चक्का एक पेड़ से टकराया और सब छिटक कर दूर जा गिरे। शुक्र था कि किसी को भी ज्यादा चोट नहीं लगी। अन्य गाड़ीवालों में से जो भी देख पाये (क्योंकि सब आगे आगे चल रहे थे), रुक गए और इस ताँगेवाले को दूसरी गाड़ी में बैठाकर दूसरा चलाने लगा। इसके बाद घोड़े ने तंग नहीं किया, ठीक चला।

बारामूला (वराहमूल – यहाँ पर वराह अवतार का स्थान है, लोग पुरोहित मानते हैं कि श्री विष्णु ने यहाँ ही वराह-रूप धारणकर पृथ्वी को दाँत पर उठाकर उसका उद्धार किया था। काश्मीर की घाटी पानी से ही भरी है, मिट्टी कम है। (जब आर्य लोग सर्वप्रथम उधर आए होंगे, उस समय शायद वराह के पीछे चलकर ही उस भूमि का पता मिला होगा।) पाँच दिन निवास कर स्वस्थ हो फिर सब श्रीनगर की ओर चले। श्री सन्तसिंह जी के अतिथि-सत्कार से सभी मुग्ध हुए। बारामूला में साधु-सन्त कोई भी जाते, तो श्री सन्तसिंह जी प्रेम से उनकी सेवा किया करते थे। उन्होंने एक बाग भी बनवा रखा था, जिसमें साधु-संत के निवास के लिए दो-तीन कुटियाँ और एक कृत्रिम गुफा भी बना रखी थी।
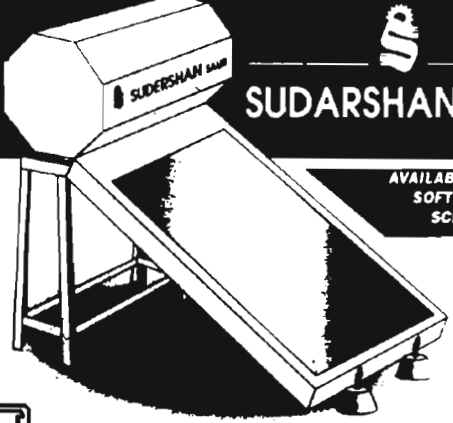
परिव्राजक संन्यासी के पास एक बहुत पतली कमली थी, जो काश्मीर की ठण्ड के लिए पर्याप्त नहीं थी। संन्यासी का एक गुरुभाई पहले ही बस में बारामूला हो आया था और श्री सन्तसिंह जी का ही अतिथि हुआ था। उसने श्रीनगर पहुँचकर एक पत्र में उन्हें लिखा कि संन्यासी के पास गरम वस्त्र या अच्छा कम्बल नहीं है, अत: उसे एक कम्बल दे दीजिएगा, वह स्वयं माँगता नहीं है, आदि आदि। पत्र मिलते ही उन्होंने संन्यासी को बताया और पास की कमली देखकर एक वजनदार देशी कम्बल लाकर दिया और बोले – "यह बहुत मजबूत है, ऐसी बनावट है कि इसमें पानी भी नहीं जाएगा, वर्षा में छत्ते का भी काम देगा और गीली जमीन पर बिछाने से भी यह गीला नहीं होगा, आप इसे ले जाइए।" संन्यासी ने इस शर्त पर उसे ले लिया कि अमरनाथ से वापस लौटते समय उसे लौटा देगा और ऐसी उदारता के लिए उन्हें धन्यवाद दिया। (असल में वह एक प्रकार के देशी ऊन से बना हुआ था, त्रिपाल जैसा माल ढाँकने का भी काम देता है।)

श्रीनगर में एक नयी धर्मशाला में ठहरने की व्यवस्था हुई थी, जिसमें हर चीज की सुविधा थी और शहर से बाहर नदी पार नई बस्ती में होने से गन्दगी भी नहीं थी। (१९२३ में) शहर बड़ा गन्दा था, सफाई का नामो-निशान तक देखने में नहीं आता था। कुत्ते, गधे, गाय आदि ही सफाई का काम करते थे। आम लोग बड़े गरीब, शरीर व कपड़े सब मलिन, देखने से ऐसा लगा कि सफाई की ओर ध्यान देने में असमर्थ हैं। पर यह मलिनता उनकी शारीरिक सुन्दरता को ढँकने में असमर्थ है। काश्मीरी लोग सुन्दर आर्य जाति के हैं। यद्यपि अधिकांश मुसलमान हैं और वैदिक ब्राह्मण अल्प रह गए हैं।

❖ (क्रमश:) ❖

मुण्डक उपनिषद : एक चिन्तन (१/१)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(कोलकाता के भारतीय संस्कृति संसद में विगत २४ से २६ जून के दौरान हुए तीन व्याख्यानों का अनुलिखन)

वन्दनीया माताओं एवं प्रिय भक्तवृंद!

इस वर्ष मुंडकोपनिषद् पर चर्चा करने का निर्णय हुआ है। अरुण चूड़ीवाल जी ने मुझसे लगभग तीन-चार महीने पूर्व पूछा कि महाराज संसद का कार्यक्रम निर्धारित हो रहा है, किस विषय पर चर्चा करें? तो मैंने ही कहा कि उपनिषद् पर चर्चा करके देखें। वैसे यह कठिन विद्या है। संसार में सरल ही क्या है? मुझे लगता है उपनिषद् पढ़ने से पैसा कमाना और अधिक कठिन काम है। जो कुछ देख रहा हूँ हमलोगों की व्यवस्था, क्रिया-कलाप इत्यादि उस दृष्टि से यही सरल है।

उपनिषद् की चर्चा इसलिए कि हिन्दू धर्म में जितने भी ग्रन्थ हैं – रामायण, महाभारत, १८ पुराण, स्मृतियाँ आदि ये सब उपनिषदों की व्याख्या है। उपनिषदों के तथ्यों की व्याख्या करने हेतु ये हम जैसे सामान्य लोगों के लिए लिखे गये हैं।

उपनिषद् का अध्ययन क्यों करना चाहिए? गीता में हम पढ़ते हैं। गीता के प्रत्येक अध्याय की समाप्ति पुष्पिका में लिखा है – **श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु।** भगवद्गीता भी एक उपनिषद् है। उपनिषद् का धातुगत अर्थ जो आचार्यगण बताते हैं, वह है – अर्थात् जो हमारे बन्धनों को ढीला कर दे, काट दे। उपनिषद् के अध्ययन और आचरण से कोई भी मनुष्य अपने हृदय की ग्रन्थियों से मुक्त हो जाता है, यह बात इसी मुंडक उपनिषद् में कही गयी है –

भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।। २/२/८

अब आइये थोड़ा यह विचार करके देखें कि उपनिषद् या इस प्रकार के जो आध्यात्मिक शास्त्र हैं, उनका अध्ययन क्यों करना चाहिए? अभी हमलोग गाड़ी में आ रहे थे। तो अरुण जी ने मुझे बताया कि अभी वे इटली गए थे। इटली के प्रधानमंत्री पर भ्रष्टाचार का मुकदमा चल रहा है। वे देश के बड़े धनिकों में एक हैं। हमारे देश में भी बहुत बड़े धनिकों के ऊपर भी भ्रष्टाचार के मामले चल रहे हैं, चलते हैं। कानून की दुर्बलता से मामले न चल पाएँ अलग बात है। सत्य तो यह है, कोई एक हजार करोड़, कोई दो हजार करोड़ का भ्रष्टाचार करते हैं। ऐसे भ्रष्टाचार करने वालों के पास शायद पाँच हजार करोड़ पहले से ही है। प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य का जीवन केवल यही है? रूपया-पैसा, घर-द्वार, इन्द्रिय-सुख-भोग जो कुछ हम अनुभव करते हैं, क्या यही जीवन का प्रयोजन है? आज के इस युग में उपनिषद् के अध्ययन का प्रासंगीकरण करके देखें तो आपलोगों से ही प्रश्न करना चाहूँगा, निवेदन करना चाहूँगा, आप-हम में मैं भी शामिल हूँ – क्या हम यह चाहते हैं कि हमारा हृदय सदैव क्रोध से भरा रहे? आपमें से क्या कोई यह चाहता है? क्या आप चाहते हैं कि आपका हृदय, आपका पूरा व्यक्तित्व लोभ से भरा रहे? क्या आप चाहते हैं कि आपका हृदय द्वेष से भरा रहे, आप राग-द्वेष से जलते रहें, कामनाएँ आपके हृदय पर एकदम अधिकार कर लें? आप ऐसा चाहते हैं क्या? हममें से कोई नहीं चाहता।

अब आप देखें क्या धन क्रोध दूर कर सकता है? क्या धन लोभ दूर कर सकता है? क्या धन इच्छा दूर कर सकता है? किसी ने किसी बात पर मेरा अपमान कर दिया। उससे जो दुःख हुआ, क्या धन उसको दूर कर सकता है? अच्छा आप देश के सबसे बड़े पद पर आसीन हो जायँ, कोई महान-से-महान पद जो स्पृहणीय है, वह प्राप्त हो जाय। फिर यदि उस पद पर प्रतिष्ठित हो जाएँ। यदि संबंधी शत्रु हो जाएँ। अगर गृहस्थ है तो पति-पत्नी में अनबन हो जाय। उनका व्रत खंडित हो जाय। तो क्या पद से उस समस्या का समाधान हो सकता है? हम विचार करके देखें। क्या बड़े-से-बड़े पद पर रहने वाला व्यक्ति भी अपमान से, क्रोध से, निन्दा से, होने वाले दुःख से, पद के द्वारा बच सकता है? क्या दाम्पत्य जीवन में पड़ने वाली दरार से बच सकता है? पिता-पुत्र में नहीं पटती और बहुत से ऐसे कारण हो जाते हैं जिससे वे शत्रुवत् हो जाते हैं। इसे कोई भी पद बचा सकता है क्या? नहीं बचा सकता। मान लीजिए यश है। सारी दुनिया हमको जानती है। इतने बड़े हम यशस्वी हैं। क्या वह यश हमारे हृदय की द्वेष की पीड़ा को, द्वेष की ज्वाला को मिटा सकता है? मेरे हृदय में राग-आसक्ति के कारण जो पीड़ा हो रही है, जो स्वजन-वियोग हुआ, वस्तु-वियोग हुआ। उससे होने वाले दुःख को क्या यश बचा सकता है? नहीं बचा सकता। ऐसी अनन्त दुःख की शाखाएँ हैं। हमारे शास्त्रकारों की बड़ी विशेषता रही है कि उन्होंने संक्षेप से विस्तार कर दिया। एक शब्द में सम्पूर्ण ज्ञान उन्होंने रख दिया। हमारे शास्त्रकारों ने, हमारे आचार्यों ने कहा कि देखो, तुम्हारे जीवन में जो दुःख है, वह मूलतः मानसिक है। दूसरे शब्दों में इसे सांसारिक दुःख कह लीजिए। यह दुःख क्यों है तथा क्यों तुम उससे नहीं छूट पाते हो? उन्होंने दुःखों के कारण की तीन इच्छाएँ बतायीं। हम एक त्रिभुज की कल्पना करें। त्रिभुज में तीन भुजाएँ होती हैं। ऐसा अगर आप एक त्रिभुज बनाएँ, तो तीन भुजाएँ हुईं। हमारा सारा व्यक्तित्व, सम्पूर्ण मन – करोड़ों-अरबों लोगों का

मन, इस त्रिभुज में रहता है। इस त्रिभुज की एक भुजा वित्तैषणा है। रूपया-पैसा, सोना-चाँदी, धन-सम्पत्ति जो भी कह लें – पाने की इच्छा वित्तैषणा है। दूसरी इच्छा है पुत्रैषणा। पुत्रैषणा माने संसार के सुख की इच्छा, इन्द्रिय सुखों की पूर्ति की इच्छा है पुत्रैषणा। तीसरी इच्छा है लोकैषणा – यश। मैं आपसे यह निवेदन करूँ। हम यह विचार कर देखें, क्या हमारा मन त्रिभुज के बाहर कभी जाता है? हमको ऐसा लगता है कि अभी जो सज्जन इटली के प्रधानमंत्री हैं, उनके पास धन का अभाव नहीं, धन होते हुए भी उनको लगता था कि यह काफी नहीं है। प्रधानमंत्री पद मिला। तब और पद मिले तो यश मिले। इटली जैसे पचास देश हमारे देश में हैं, रोज हम यही देखते हैं। धनवान पद चाहता है। पदवान धन चाहता है। धनवान, पदवान सब मिलकर यश चाहते हैं। हम सब चाहते हैं। अपने आप से हम पूछ कर देखें कि जो भी साधन अपने पास उपलब्ध है, उन साधनों से इसमें आनेवाली बाधाओं से होनेवाले दु:ख से मुक्ति हो सकती है क्या? जितना धन मैं चाहता हूँ, अगर वह न मिले तो मुझे दु:ख होता है। जितना चाहता हूँ, अगर वह मिल गया तो तुरन्त लोभ होता है। मन रुकता नहीं। यश का तो कहना ही क्या है! हमलोग पाश्चात्य संस्कृति से ऐसे प्रभावित हैं – पिछले वर्ष या उसके पहले मैं यहाँ आया था। मेरे एक मित्र ने मुझे एक पुस्तक दी। उसका नाम था – 'स्काई इज दी लिमिट'। उसके लेखक हैं – ह्वेनडायर। वैसे आदमी के विकास की बातें बहुत ठीक हैं, पर थोड़ा विचार करके देखें कि यह कितनी बड़ी मूर्खता है कि 'आकाश ही सीमा है'। क्या आकाश की कोई सीमा हो सकती है? यदि मेरे मन में उन्नति की, इस त्रिभुज की तीन भुजाओं – लोकैषणा, वित्तैषणा और पुत्रैषणा – इनकी सीमा आकाश हो तो जीवन नरक हो जाएगा। अब देखिए, ये जो तीन एषणाएँ हैं, यह त्रिभुज है। क्या इस त्रिभुज के बाहर हमारा मन जाता है? हम भ्रान्ति में हैं। जिनके पास धन है, वे सोचते हैं, यदि पद मिल जाय तो शायद ठीक हो जाय। पद के मिलते ही यश मिल जाय तो ठीक हो जाय। यश मिल गया, फिर भी वह भोगेषणा जहाँ की तहाँ।

इस त्रिभुज के बाहर जाने का रास्ता ब्रह्मज्ञान को छोड़कर और दूसरा कुछ भी नहीं है। इसको छोड़कर हम त्रिभुज के बाहर नहीं जा सकते। जब तक ये एषणाएँ मन में रहेंगी, भले ही तात्कालिक थोड़ी सी शान्ति, थोड़ी सी सुविधा और सुख मिल जाय, पर उसका परिणाम हमेशा दाद को खुजलाने के बाद जलन के समान महादु:ख ही होता है। इसलिए उपनिषद् या ब्रह्मविद्या का अध्ययन परम आवश्यक है। इससे क्या लाभ होगा?

ब्रह्मविद्या के अध्ययन से हमारे जीवन में संतुलन आएगा। एक दिशा मिलेगी। उस दिशा के द्वारा हम जीवन में समायोजन कर सकेंगे। आज जितनी भी दिशाएँ हमको मिलती हैं, जितने भी मार्गदर्शन मिल रहे हैं, ये सब मार्गदर्शन इस त्रिभुज को बढ़ाने के निमित्त मिल रहे हैं कि कैसे हम अधिक-से-अधिक धन कमा लें, नाम कर लें। उपनिषदों के अध्ययन से हम सत्य की ओर जाने का प्रयत्न कर सकेंगे और हम समझ सकेंगे कि जीवन का सार क्या है?

वर्तमान में हमारा जो जीवन है, वह असत्य पर आधारित है। क्या यही संसार सब कुछ है? यदि यही सब कुछ है, तो जीवन में हम जो कुछ चाहते हैं, क्या वह हमें मिला है? और जो आज मिला है उससे हम संतुष्ट हैं क्या? अगर हम अपने से पूछें, विचार करके देखें, तो हम देख पाएँगे कि जो कुछ हमें मिला है, उससे हम संतुष्ट नहीं हैं। जो कुछ हमारे पास नहीं है, उसकी मन में आकांक्षा है और वह आकांक्षा सदैव हमको विक्षुब्ध किए रखती है। हम सदैव तनाव में रहते हैं और जीवन में विश्राम नहीं पा पाते। सतत् श्रम – वह श्रम किसलिए? – अनुपलब्धि की प्राप्ति के लिए। अनुपलब्ध की प्राप्ति ज्यों ही हुई, वह निस्सार हो जाता है। फिर से एक दूसरी उपलब्धि की आशा हो जाती है। इच्छा से आशा, आशा से प्रयत्न, प्रयत्न से श्रम, और श्रम से सब प्रकार के दु:ख। जीवन में यही क्रम रहता है। अब इसे थोड़ा उपनिषद् के आधार पर भी देखें। अभी आपलोगों को परमानन्द जी ने मुंडक उपनिषद् के बारे में बताया। संस्कृत में मुंड, मस्तक को कहते हैं और मुण्डित मस्तक को भी कहते हैं। कुछ आचार्यों की जैसे अखण्डानन्द जी महाराज की बात इन्होंने बतायी। वे हमारे समय के बहुत बड़े विद्वान् थे। रामकृष्ण संघ के एक पूर्व अध्यक्ष थे – परम पूजनीय भूतेशानन्द जी महाराज। मेरा परम सौभाग्य रहा कि उनसे मुझे मुण्डक उपनिषद् पढ़ने का सुअवसर मिला। महाराज कहते थे – "देखो, मुण्डित मस्तक के लोग जिस उपनिषद् का अध्ययन करते हैं, तुम लोग भी उसी मुण्डक उपनिषद् का अध्ययन करते हो।" ऋषियों ने जब मुण्डक नाम रखा तो क्या इसका अर्थ इतना स्थूल है? तब फिर उन्होंने कहा कि देखो, इसका एक अर्थ यह है कि मुण्डित मस्तक के लोग, अर्थात् जिन्होंने संसार छोड़ दिया या जो इन एषणाओं से बचना चाहते हैं। इन एषणाओं में हमने देख लिया कि इन्द्रिय-सुखों से अधिक और कुछ नहीं है। तब क्या हम इसी दिशा में ही लगे रहें? वस्तुत: उसका तात्पर्य है कि जैसे हम मुण्डन करते हैं, तो हमारा सिर साफ हो जाता है। उसी प्रकार हमारे मुण्ड में, हमारे सिर में जितनी प्रकार की असत्य बातें घुसी हुई हैं – आशा-आकांक्षा, विभिन्न प्रकार की इच्छाएँ, वासनाएँ, कामनाएँ आदि, उसके कारण हम किसी भी दिशा में सम्यक् रूप से विचार नहीं कर पाते, वे सब मुण्डक उपनिषद् के अध्ययन से साफ हो जाएँगी, निकल जाएँगी। मुण्डक उपनिषद् के अध्ययन से जो अवांछित विचार

बुद्धि में है, जो अवांछित इच्छाएँ हृदय में हैं, वे सब दूर हो जाएँगी। इसलिए मुण्डक उपनिषद् के अध्ययन का तात्पर्य है कि जब तक बुद्धि या मस्तिष्क शुद्ध नहीं होगा – मस्तिष्क केवल ब्रेन नहीं – बुद्धि शुद्ध नहीं होगी, तब तक जीवन में सम्यक् विचार नहीं आ सकता। सम्यक् विचार नहीं होगा तो जीवन व्यवस्थित नहीं रह पायेगा। हमारे प्रत्येक उपनिषद् में एक शान्ति पाठ है। उसका हम पाठ कर उस पर विचार करें। मैं उसकी कुछ और विशेषताओं की ओर आपका ध्यान आकर्षित करूँ। मुण्डक उपनिषद् या किसी भी उपनिषद् का लेखक कौन है? इसे कोई नहीं जानता? हमारी स्थिति यह है कि अगर हमने एक पृष्ठ का कोई लेख लिखा हो, चिट्ठी लिखी हो, तो पचास पृष्ठ का विज्ञापन देना चाहते हैं। सारे कलकत्ता के लोग, फिर छत्तीसगढ़ के लोग, भारत के लोग जान जाएँ कि मैंने लिखा है। लिखने के पहले नाम ऊपर लिखा रहता है। नाम पहले पढ़ लें कि मैंने लिखा है। यह यश की कितनी बड़ी लिप्सा है, आकांक्षा है। इन लोगों ने जो विश्व को शाश्वत ज्ञान दिया है, जो ज्ञान की चरम परिणति है, इसके आगे कोई ज्ञान नहीं है। पर कहीं उन्होंने अपना नाम नहीं दिया। यह उपनिषद् के वेदान्त के अध्ययन का फल है। इस ब्रह्मविद्या के अध्ययन से उन ऋषियों ने जिन्होंने उपनिषद् लिखे उनके हृदय से सभी प्रकार की आशा-आकांक्षाएँ तो निर्मूल हो ही गई, उनका अहंकार भी समाप्त हो गया। संसार मे ऐसा कोई धर्मग्रन्थ नहीं है जिसमें लेखक ने अपना नाम न लिखा हो या प्रकारान्तर से न बताया हो। हमारे शास्त्रों को व्यासदेव ने लिखा। हम एक ही नाम पाते हैं – व्यासदेव। कितने व्यास हैं कौन जानें! कहीं भी इनमें लेखकों का नाम नहीं आया है। कितनी बड़ी बात है! कितने अहंकार शून्य वे लोग थे! इस उपनिषद् में या किसी भी उपनिषद् में आप देखेंगे, वे कभी नहीं कहते कि 'मैं ऐसा कह रहा हूँ'। **ते ब्रह्मविदः वदन्ति** – वे जो ब्रह्मविद् लोग थे, उन्होंने हमको ऐसा बताया है, वही हम तुमको बता रहे हैं। 'मैं बता रहा हूँ', ऐसा नहीं कहते। वस्तुतः देखिए तो उन्होंने भी अनुभव ही किया था। सत्य में प्रतिष्ठित थे। वे भी ब्रह्मविद् थे। सत्य में प्रतिष्ठित होकर उन्होंने ये उपनिषद् लिखे। वे कहते हैं, 'हमारे पूर्व ऋषियों ने बताया'।

यहाँ गुरु और शिष्य दोनों मिलकर प्रार्थना कर रहे हैं। उपनिषद् पढ़ने के पहले प्रार्थना ॐ से शुरू होती है –

ॐ भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवाः
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ।।
स्वस्ति नः इन्द्रो वृद्धश्रवाः
स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्तिनस्ताक्ष्यों अरिष्टनेमिः
स्वस्तिनो वृहस्पतिर्दधातु ।।

ऐसी यह प्रार्थना है। इस प्रार्थना के द्वारा ऋषियों ने अर्थात् शिष्य और गुरु ने अपने दोनों के कल्याण की प्रार्थना की है तथा हमारे लिए साधना की दृष्टि से बहुत बड़ा सन्देश दिया है। यहाँ आपसे निवेदन करूँ। सारे प्रवचन करने का एक ही प्रयोजन है – उससे हमारी चेतना में परिवर्तन आए और हम अपने जीवन में परिवर्तन घटा सकें। अन्यथा समाचार पत्र पढ़ने और उपनिषद् पढ़ने में कोई अन्तर नहीं है। चेतना या मन किन दो इन्द्रियों से सबसे अधिक दूषित होता है? किससे हमारा अन्तःकरण दूषित होता है, जो लगभग हमारे वश के बाहर है? साधना करने पर इसके द्वारा शुद्धि भी होती है। वे इन्द्रियाँ हैं – आँख और कान। ऋषि क्या कहते हैं?– **भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवाः** –हे देव, हे प्रभु! हम कान से अच्छी बातें सुनें। उन्होंने ऐसा तो नहीं कहा कि जीभ से अच्छी चीजें खाएँ। स्पर्श – चमड़े में बहुत अच्छी चीजों का स्पर्श करें। भद्रं – संस्कृत में कल्याणकारी को भद्र कहते हैं। जो शुभ है, अशुभ का लेश भी जहाँ नहीं हो। प्रभु से प्रार्थना कर रहे हैं, "हे प्रभु! हम कानों से भद्र चीजें, अच्छी चीजें सुनें। साधक और साधिका के जीवन में इसकी बहुत सावधानी रखनी चाहिए। सचमुच जिसके जीवन में उच्च जीवन की आकांक्षा है। मन पर सुने हुए शब्दों का प्रभाव वर्षों तक रह सकता है। लोग स्कूल, कॉलेज तथा होस्टल चलाते हैं। कई बार मैंने ऐसा देखा है। अच्छे अच्छे घरों के बच्चे जिन्होंने स्वप्न में भी गालियाँ नहीं सुनी होंगी, वे इसी तथाकथित अच्छे स्कूलों में यहा-वहाँ पढ़े। और कालेज में पढ़ने के लिए रामकृष्ण मिशन के द्वारा संचालित कालेज में आए। आये तो थे अच्छे, उच्च परिवार, शिक्षित परिवार के बच्चे। पर इस प्रकार अश्लील चर्चा कैसे करने लगे? जिस वातावरण में वे रहते थे, वहाँ के वार्डेन, वहाँ के खानशामे आदि ऐसे सब लोग इस प्रकार के अपशब्दों का प्रयोग अवश्य करते रहे होंगे। इसे बच्चों ने कान से सुना और मन में बात जम गयी। अपने अनुभव से आप देखिए। मान लीजिए हमलोग किसी रास्ते से निकलते हैं। रोज उस रास्ते में भजन चलता है। गीता के श्लोक होते हैं। माइक में हम रोज सुनते रहते हैं। साल भर शायद उधर से आए गए होंगे। कुछ लोगों को उसका एक शब्द भी याद नहीं होता है। एक दिन आप निकले। सीनेमा के किसी नट-नटी के ऐसे गाने उसमें बज रहे हैं, जो अश्लील हों। एक बार उसे सुनकर श्रुतिधर के समान तुरन्त याद हो जाएगा। किसी की गालियाँ सुन लें तो वे गालियाँ तुरन्त याद हो जाती हैं। उससे कौन सी इतनी बड़ी हानि हो सकती है? जब एकान्त में मन को स्थिर करने का प्रयत्न करेंगे, कुछ सोचने का प्रयत्न करेंगे, उस समय ये सुनी हुई बातें मन में आयेंगी।

इसलिए ऋषि लोग कहते हैं – **भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः** – हे प्रभु! हम कान से अच्छी बातें सुनें। अच्छी बातें सुनने का तात्पर्य जो अशुभ हो उसको सुनने से बचें। अरे क्या होता है? हमको क्या लेना-देना है? बजता है तो बजता रहे। ऐसा नहीं है, मन पर उसका प्रभाव पड़ता है। फिर कहते हैं – **अक्षिभिः भद्रं पश्येम** – आँखों से हम अच्छी चीजें देखें। शिक्षाशास्त्री हमें बताते हैं कि शिक्षा देने की श्रेष्ठ पद्धति जो उपलब्ध है, वह है 'आडियो-विजुयल एड' – श्रव्य-दृश्य पद्धति। 'आडियो-विजुयल एड' दृश्य-श्रव्य शिक्षा के माध्यम से बच्चों तथा बड़ों को हम सब सिखा देते हैं। आँख से जो चीज हम देखते हैं, वह हमारी चित्त की दुर्बलता के कारण कैमरे के फिल्म के समान अंकित हो जाती है। आँखों की तुलना में कान भी कम हानिकारक नहीं है। जिस व्यक्ति ने उपनिषद् पढ़ा है, उपनिषद् विद्या का अध्ययन किया है, ब्रह्मविद्या का अध्ययन किया है और तदनुसार साधना की है, उसका चित्त दर्पण के समान हो जाता है। चित्र के सम्मुख जो आया, उसका चित्र पर प्रतिबिम्ब पड़ा, किन्तु उसके हटते ही चित्त पुनः दर्पण के समान साफ के साफ। उसका कोई प्रभाव चित्त पर नहीं रह जाता। उपनिषद् का अध्ययन न करने पर हमारा चित्त कैमरे के फिल्म के समान बना रहता है जिसमें सब बातें छप जाती हैं। कान से सुने हुए और आँख से देखे हुए श्रव्य-दृश्य संस्कार हमारे मन को इतना दूषित कर देते हैं कि फिर उनको सँभालना बड़ा कठिन हो जाता है। आधुनिक विज्ञापन का सारा विज्ञान इस पर आधारित है। वे मनोवैज्ञानिक जो विज्ञापन तैयार करते हैं, इस रहस्य को जानते हैं। हम किसी वस्तु को साइन बोर्ड में, टी. वी. में कहीं भी ऐसे प्रस्तुत करें, जिसे देख-सुनकर लोग आकर्षित हो जायँ। आपको स्वप्न में भी उन चीजों की आवश्यकता नहीं थी। चार बार विज्ञापन देखे तो तुरन्त लगता है कि इसे मोल लें और इसका उपयोग करके देखें। बीस साल से आप एक ब्लेड का व्यवहार करते हैं। चार दिन आपने एक नया विज्ञापन देखा और तुरन्त ब्लेड को बदल दिया। आप सोचकर देखिये कि जिस कान से और जिस आँख से दिन-रात २४ घंटे हम केवल संसार सुनते हैं, संसार देखते हैं, वे यही तीन एषणायें – लोकैषणा, वित्तैषणा और पुत्रैषणा हैं। भोग इच्छा – संसार को भोगने की इच्छा निरन्तर हमारे मन को कान और आँख से प्रभावित करती रहती है। उससे मुक्ति कैसे मिलेगी? मन कैसे शान्त होगा? एषणायें तो अशान्ति का कारण हैं। एक पात्र में पानी भरा है। निरन्तर उसमें हम कंकड़ डालें, तो उसमें क्षोभ होता ही रहेगा। इसलिए ऋषिगण प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु! ऐसी कृपा करो कि हम कान से अच्छी बातें सुनें, आँख से अच्छी चीजें देखें। **स्थिरैः अङ्गैः तुष्टुवान् सः तनूभिः** – हे प्रभु, हम स्थिरैः अङ्गैः – सुदृढ़ अंगों से, **तनूभिः** – एवं सुदृढ़ शरीरों से, **तुष्टुवान् सः** – भगवान की स्तुति करते हुए अपना जीवन परमात्मा के लिए व्यतीत करें आदि। स्थिर अंग से और स्थिर इन्द्रिय अर्थात् सुदृढ़ शरीर से प्रभु ने जो शक्तियाँ हमें दी हैं – कान से अच्छी चीजें सुनें, आँख से अच्छी चीजें देखें। हम तुमसे प्रार्थना कर रहे हैं कि हमारी इन्द्रियाँ सजग और दृढ़ रहें। हे प्रभु, ऐसे सशक्त जागृत शरीर से हम ऐसे कर्म करें, जो सबके कल्याण के लिए हो। हमारा जीवन – **विवेक शरणं गच्छ** – विवेक की शरण में जाओ, ऐसा हो। प्रभु कृपा से हम सौ साल जीयें। **देवहितं यदायुः**– जितना जीवन हमारा बचा हुआ है, वह प्रभु के लिए हो। संसार की सेवा में, विश्व के कल्याण में लगे। इसके लिए फिर वे प्रार्थना करते हैं कि हे इन्द्र! – **स्वस्ति नः इन्द्रो वृद्धश्रवाः** – आपकी कीर्ति चारों ओर है। सभी लोग आपकी पूजा करते हैं। आपसे हम प्रार्थना करते हैं कि आप हम दोनों – शिष्य और गुरु – का कल्याण करें। **विश्ववेदाः पुषा** – हे विश्व को जानने वाले सूर्यदेव! आपसे हमारी प्रार्थना है कि हम दोनों का कल्याण करें। **स्वस्ति नः दधातु** – हमें आशीर्वाद दें। हे अरिष्टनेमि! हे चक्र सदृश शक्तिशाली गरुड़देव! सब प्रकार की दुष्प्रवृत्तियों, दुष्कृत्यों को नष्ट करने वाले! आप हम दोनों पर कृपा करें। हे बृहस्पति! आप हमको सद्बुद्धि दें। यह शान्ति मन्त्र है। इसके संस्कृत के शब्द भले ही याद न रहें, इसके भाव याद रखकर रोज प्रार्थना करनी चाहिए कि प्रभु, ऐसी कृपा करो, हम कुछ बुरा न सुनें, बुरा न देखें। हमसे ऐसा कोई कार्य न हो जिससे जगत् का अहित हो, लोगों का अहित हो। इस प्रार्थना के द्वारा हमारी मानसिक पृष्ठभूमि तैयार होती है।

अब ऋषि बता रहे हैं कि मुण्डक उपनिषद् का विषय क्या है? इसका नाम है ब्रह्मविद्या। सरल शब्दों में समझना हो तो मुण्डक उपनिषद् या सभी उपनिषदों का विषय है – संसार की ज्वाला से कैसे बचें? संसार की ज्वाला से हमारा हृदय जल रहा है। संसार के दुःख से हम दुःखित हैं। इसे कोई नकार नहीं सकता। भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं – **अनित्यं असुखं लोकं इमं प्राप्य भजस्व माम्**। इसका अर्थ है – यह लोक अनित्य दुःखपूर्ण है। हम दूसरों से कहें न कहें, हम स्वयं अपने मन की बात जानते हैं। इसको दूर करने के लिए हमें उपाय करना होगा। ऐसी विद्या जिसकी परीक्षा कर ली गई हो, ऐसी विद्या जिसका प्रयोग हजारों लोगों ने पहले भी किया हो और उसके द्वारा दुःखों से मुक्त हुए हों। जो रोग हमको है, उसकी दवा परम्परा से वैद्य हमें बताए। उसके पिता, फिर उसके पिता वैद्य थे। वे दवा बनाते चले आ रहे हैं। उस परम्परा का ज्ञान-प्राप्ति की दिशा में बहुत बड़ा महत्व है।

❖ (क्रमशः) ❖

श्रीरामकृष्ण की बोध-कथाएँ

(कथाओं व दृष्टान्तों के माध्यम से अपनी बातें समझाने की परन्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। श्रीरामकृष्ण भी अपने उपदेशों के दौरान अनेक कथाएँ सुनाते थे। यत्र-तत्र बिखरी इन मूल्यवान कथाओं को हम यहाँ धारावाहिक रूप से प्रस्तुत कर रहे हैं। – सं.)

१. शरणागति

सीता की खोज करते करते राम और लक्ष्मण पम्पा सरोवर के तीर पर पहुँचे। निर्मल, शीतल जल देखकर उनकी स्नान करने की इच्छा हुई। उन्होंने वल्कल उतार कर तट की मिट्टी में धनुष गाड़ दिये। स्नान करके लक्ष्मण ने धनुष निकालते हुए आश्चर्य और खेद के साथ देखा कि धनुष में खून लगा हुआ है। देखकर राम बोले, "भाई, लगता है, कोई जीव-हिंसा हो गयी।" लक्ष्मण ने मिट्टी खोदकर देखा तो एक बड़ा मेंढ़क था, वह मरणासन्न हो गया था। राम ने करुणापूर्ण स्वर में कहा, "तुमने आवाज क्यों नहीं दी? हम लोग तुम्हें बचा लेते। जब साँप पकड़ता है, तब तो खूब चिल्लाते हो।" मेढ़क ने कहा, "राम, जब साँप पकड़ता है, तब मैं चिल्लाता हूँ – राम, रक्षा करो, राम, रक्षा करो ! परं अब देखता हूँ, राम स्वयं मुझे मार रहे हैं, इसीलिए मुझे चुपचाप रह जाना पड़ा।"

यथार्थ भक्त सुख आने पर अति उत्फुल्ल और दुख आने पर विचलित नहीं हो जाता। वह दोनों को भगवान की इच्छा मानकर सन्तुलित बुद्धि से जीवन-यापन करता है। उसके लिये यदि सुख-दुख दोनों ही प्रभु के वरदान हैं। वह दुख को भी प्रभु की इच्छा जानकर अपने मंगल का ही कारण समझता है। यही यथार्थ शरणागति का भाव है।

२. संसार-रूपी वन

एक समय की बात है, कोई व्यक्ति अरण्य में से होकर जा रहा था। वह रास्ता भटक गया। देखते-ही-देखते संध्या उतर आयी, पर वह रास्ता न खोज पाया। इतने में तीन डाकू कहीं से निकल पड़े और उस बटोही को लूट लिया। उनमें से एक ने सलाह दी, "अब इस आदमी को जीवित रखकर क्या लाभ? यह तो पुलिस में खबर दे देगा।" और यह कहकर वह अपनी तलवार उस बटोही के गले पर फेरना ही चाहता था कि दूसरा डाकू बोल उठा, "अरे, अरे, नाहक हत्या का पाप क्यों मोल लेते हो? ऐसा करो, इसके हाथ-पैर बाँधकर इसे यहीं डाल दो।" डाकुओं ने बटोही के हाथ-पैर बाँध दिये और अपने रास्ते चले गये। कुछ समय बाद तीसरा डाकू लौट आया और बटोही से कहने लगा, "भाई, मुझे दुख है कि तुम्हें कष्ट हुआ। कहीं चोट तो नहीं आयी? क्या करूँ, उस समय मैं अकेला पड़ गया था। मेरे दोनों साथी मुझसे सहमत नहीं होते। मैं तुम्हारे बन्धन खोल देता हूँ।" फिर बन्धन खोलकर उसने बटोही से पुनः कहा, "आओ, मेरे साथ चले आओ। मैं तुम्हें बड़े रास्ते तक पहुँचा आता हूँ।" बड़ी देर तक चलने के बाद वे बड़े रास्ते पर पहुँचे। बटोही डाकू के उपकार से दब गया और हाथ जोड़कर उसने गद्‌गद स्वर में कहा, "भाई, तुमने मेरी जान बचा ली। किस प्रकार इस उपकार का बदला चुका सकता हूँ! कम-से-कम मेरे घर तक तो चलो।" इस पर डाकू बोला, "नहीं, नहीं, मैं इसके उस पार नहीं जा सकता। पुलिस को खबर लग जायेगी। बस, यहीं से विदा।"

यह संसार ही वह अरण्य है। जीव यहाँ भटक गया है। उस पर सत्त्व, रज और तम रूपी तीन डाकू हमला करते हैं। वे जीव आत्मज्ञान रूपी अमूल्य धन को लूट लेते हैं। तमोगुण तो उसका खात्मा ही कर देना चाहता है। रजोगुण उतनी दूर नहीं जाता, पर हाँ, उस दूसरे डाकू के समान वह जीव को संसार-पाश से जकड़ देता है। पर सत्त्वगुण उसे रज और तम इन दोनों के बन्धन से मुक्त कर देता है। सत्त्व के प्रबल होने पर जीव काम, क्रोध तथा तमोगुण के अन्य दोषों से छुटकारा पा लेता है। साथ ही सत्त्व संसार-पाश को भी शिथिल कर देता है। पर सत्त्व भी आखिर डाकू ही है। भले ही वह भटके हुए जीव को संसार-अरण्य से निकालकर परमात्मा तक पहुँचने की रास्ता दिखा देता है, तथापि वह उसे आत्मज्ञान नहीं दे सकता। जीव को रास्ते पर लाकर सत्त्वगुण उससे कहता है, "देखो, सामने देखो। वह रहा तुम्हारा धाम।"

सत्त्वगुण भी ब्रह्मज्ञान से बहुत दूर है।

३. विश्वास की शक्ति

किसी गाँव में एक पण्डित जी रहा करते थे। कथा-प्रवचन उनकी आजीविका थी। उनके गाँव के पास से ही एक नदी बहती थी, जिसके उस पार के गाँव से एक ग्वालिन नित्य पण्डित जी को दूध दे जाया करती थी। नदी पर नाव की कोई नियमित व्यवस्था नहीं थी, इसलिये ग्वालिन हर रोज ठीक समय पर दूध नहीं ला पाती थी। एक दिन पण्डित जी ने ग्वालिन को देर से दूध लाने के कारण डाँट दिया। ग्वालिन दुखी होकर बोली, "मैं क्या करूँ? मैं तो मुँह-अँधेरे ही घर से निकल पड़ती हूँ, पर नदी पर आकर माँझी के लिये रुकना पड़ता है। माँझी सवारी भरने के लिये रुका रहता है।" पण्डित जी से उसकी अक्सर बकझक होती रहती। एक दिन दूध देकर जाते समय पण्डित जी के प्रवचन के शब्द उसके

कानों में पड़े, "भगवान के नाम में इतनी शक्ति है कि व्यक्ति उनका नाम लेकर सहज ही भवसागर से पार हो सकता है।" ग्वालिन को अपनी समस्या का समाधान मिल गया !

दूसरे दिन से पण्डित जी को सुबह ठीक समय पर दूध मिलने लगा। एक दिन पण्डित जी ने आश्चर्यपूर्वक ग्वालिन से पूछा, "क्या बात है? अब तो ठीक समय पर दूध दे जाती हो? क्या कोई नाव खरीद ली है?" वह बोली, "खरीदने की क्या बात, महाराज? मैं गरीब औरत, भला कहाँ से नाव खरीदूँ? आपने जो उपाय बताया था, बस उसी से हो गया !"

"मैंने?" – पण्डित जी ने विस्मय में आकर पूछा, "मैंने तुम्हें कौन-सा उपाय बताया?" ग्वालिन ने हँसकर कहा, "उस दिन आपने कहा था न कि भगवान का नाम लेकर लोग भवसागर पार हो जाते हैं। बस, उसी से मेरा काम हो गया।" – "क्या मतलब?" पण्डित जी अचरज में आकर चीख उठे, "हँसी न करो ! क्या तुम सचमुच ही भगवान का नाम लेकर नदी को पार कर लेती हो? – बिना किसी नौका के सहारे?" वे ग्वालिन की बात पर विश्वास ही न कर पा रहे थे। अन्त में कहा, "क्या तुम मुझे दिखा सकती हो कि कैसे नदी को पार करती हो?" ग्वालिन पण्डित महाशय को साथ ले गयी और नदी के जल पर चलना शुरू कर दिया। कुछ दूर जाकर उसने पीछे लौटकर देखा – पण्डित जी घुटने भर पानी में धोती उठाये आश्चर्य से बुत बने खड़े हैं। उनकी ऐसी बुरी दशा देखकर ग्वालिन बोली, "यह कैसी बात है, महाराज ! यह कैसी बात। मुँह से तो आप भगवान का नाम ले रहे हैं, पर साथ ही धोती को गीली होने से बचाने के लिए उसे ऊपर ऊपर उठा रहे हैं? ऐसे में कैसे नहीं पार करेंगे?"

तात्पर्य यह कि केवल किताबी ज्ञान प्राप्त कर लेने से ही काम नहीं बनता। जब तक उस ग्वालिन के समान सरल हृदय से भगवन्नाम में विश्वास नहीं होता, तब तक वे नहीं मिलते। विश्वास की शक्ति असम्भव को भी सम्भव बना देती है।

४. महावत नारायण

किसी तपोवन में एक पहुँचे हुए महात्मा रहा करते थे। उनके कई शिष्य थे। एक दिन उन्होंने शिष्यों को शिक्षा दी कि सर्वभूतों में नारायण का वास है, सारे जीव नारायण के ही रूप हैं, अतः ऐसा जानकर सबको झुककर प्रणाम करना चाहिये। एक शिष्य हवन-काष्ठ लाने जंगल की ओर गया। सहसा उसने जोरों की एक चिल्लाहट सुनी, "रास्ते से हट जाओ! राजा का पागल हाथी छूट गया है !" रास्ते के सभी लोग तो भाग गये, पर महात्मा जी का यह शिष्य वहीं खड़ा रहा। वह सोचने लगा, "गुरुदेव ने आज ही पाठ पढ़ाया है कि सभी जीवों में नारायण का वास है, सब नारायण के ही रूप हैं। हाथी भी नारायण का एक रूप है। मैं भी नारायण का एक रूप हूँ। तब नारायण को नारायण से भला क्या भय हो सकता है? मैं क्यों भागूँ?" वह चुप खड़ा रहा, हाथी को सिर नवाया और उसका कीर्तिगान करने लगा। महावत लगातार चिल्लाता रहा, "भाग जाओ ! भाग जाओ !" पर वह शिष्य नहीं हटा। इतने में हाथी समीप आया उसने उस शिष्य को सूड़ से उठाकर जोरों से पटक दिया और चलता बना।

शिष्य बेहोश हो गया। चोट काफी लगी। लोगों से घटना सुन महात्माजी अपने शिष्यों को ले शीघ्र घटना-स्थल पर आये और बेहोश शिष्य को आश्रम ले गये। उन्होंने औषध दी। धीरे धीरे शिष्य होश में आया। किसी ने उससे पूछा, "तुम जब देख रहे थे कि पागल हाथी आ रहा है, तो रास्ते से हटे क्यों नहीं?" वह बोला, "पर आज ही तो गुरुदेव ने सिखाया कि नारायण ही सब भूतों में रमे हैं, पशु और मनुष्य नारायण के ही सब रूप हैं। अतः यह सोचकर कि हाथी-नारायण आ रहा है, मैं भागा नहीं।" इस पर गुरुदेव ने कहा, "ठीक है बेटा, यह सत्य है कि हाथी-नारायण आ रहा था, पर महावत-नारायण ने तुम्हें हट जाने के लिये कहा था न? जब सभी नारायण के रूप हैं, तो तुमने महावत की बात क्यों न मानी? तुम्हें महावत-नारायण की बात पर कान देना था।"

नारायण सभी भूतों में रमे हैं यह ठीक है, पर दुष्ट जनों की संगति नहीं करनी चाहिये, उनसे दूर ही रहना चाहिये। केवल सज्जनों से ही घनिष्ठता बढ़ानी चाहिये। नारायण तो सिंह में भी हैं, तो क्या इसलिये सिंह को गले लगाना चाहिये ! तुम कह सकते हो, "जब सिंह भी नारायण का एक रूप है, तो उससे दूर क्यों भागना चाहिये?" तो इसका उत्तर यह है – "जो लोग तुम्हें भाग जाने को कहते हैं, वे भी तो नारायण के रूप हैं, तो उनकी बात क्यों नहीं माननी चाहिये?"

यह सत्य है कि पवित्र-अपवित्र, पुण्यात्मा-पापी सभी के हृदय में नारायण विराजते हैं, पर मनुष्य को चाहिये कि वह अपवित्र, पापी और दुष्टों की संगति से दूर रहे। ऐसे लोगों से वह घनिष्ठता कदापि न करे। उनमें से कुछ लोगों के साथ भले वह बातें कर ले, पर दूसरों के साथ तो उतना भी न करे। ऐसे लोगों से दूर रहने में ही उसका कल्याण है।

जैसे, पानी तो आखिर पानी है। पर गन्दी नाली के पानी को हम बर्तन धोने के काम में नहीं लाते। बर्तन धोने के पानी से हम स्नान नहीं करते। स्नान के जल को हम पीने के काम में नहीं लाते और न पीने के पानी से देवपूजा ही करते हैं। इसी प्रकार, पारमार्थिक सत्यों के प्रति हमें व्यावहारिक दृष्टि अपनानी पड़ती है। स्थान और अवस्था के भेद से पारमार्थिक सत्यों का व्यावहारिक रूप बदलता रहता है।

❖ (क्रमशः) ❖

स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण

कार्नेलिया कोंगर

(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामीजी के काल में जन्म तथा उनका सामीप्य प्राप्त किया। उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आने-वाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियों को लिपिबद्ध किया है। ये संस्मरण अनेक पत्र-पत्रिकाओं व ग्रन्थों में प्रकाशित हुए हैं। प्रस्तुत लेख अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ से हिन्दी में अनुवाद किया गया है। – सं.)

१८९३ ई. में हुई कोलम्बियन प्रदर्शनी के समय शिकागो में होनेवाली धर्मों की महासभा के पूर्व विभिन्न चर्चों के सदस्यों ने स्वेच्छापूर्वक उसके प्रतिनिधियों को अपने अपने घर में रखने को सहमत हुए थे। मेरी नानी श्रीमती जॉन बी. ल्योन भी उनमें एक थीं और उन्होंने अनुरोध किया था कि उन्हें अतिथि के रूप में एक ऐसा प्रतिनिधि दिया जाय, जो खूब उदार दृष्टिकोण का हो, क्योंकि मेरे नाना दर्शन-शास्त्र में रुचि रखने के बावजूद धर्मान्धों को नापसन्द करते थे। २६२ मिशीगन एवेन्यू पर स्थित हरे रंग का हमारा घर थोड़े पुराने ढंग का फ्रेम- हाउस था और सामने लाल जिरेनियम के पौधों के बक्से रखे हुए थे।

उस पूरे गर्मी के मौसम के दौरान हमारा घर अतिथियों से भरा रहा, क्योंकि मेरे नाना और नानी स्वभाव से ही अतिथिपरायण थे और विश्वमेला बड़ा ही उत्साहवर्धक तथा अद्भुत था। अत: नगर के बाहर रहनेवाले हमारे सभी सम्बन्धी तथा मित्र शिकागो आकर उसका परिदर्शन करने को उत्सुक थे। जब हमें समाचार मिला कि हमारे प्रतिनिधि अमुक दिन शाम को आयेंगे, उस समय हमारे घर में इतना स्थानाभाव था कि मेरी नानी ने अपने मँझले पुत्र को घर छोड़कर एक मित्र के यहाँ चले जाने को कहा, ताकि उसका कमरा अतिथि को दिया जा सके। समाचार आया कि हमारे सम्प्रदाय – फर्स्ट प्रेस्बिटेरियन चर्च – के एक सदस्य आधी रात के बाद उन्हें साथ लेकर आयेंगे। घर के सभी लोग सो गये, एकमात्र नानी ही उनका स्वागत करने के लिए जागकर प्रतीक्षा करती रही।

घण्टी की आवाज सुनकर जब उन्होंने द्वार खोला, तो वहाँ लम्बा गेरुआ लबादा, लाल कमरबन्द तथा लाल पगड़ी बाँधे हुए स्वामी विवेकानन्द खड़े थे। उनके लिए यह दृश्य बड़ा ही विस्मयकर था, क्योंकि इसके पूर्व उन्होंने किसी भारतवासी को नहीं देखा था। उन्होंने आनन्दपूर्वक उनका स्वागत किया और ले जाकर उनके रहने का कमरा दिखा दिया। परन्तु जब वे लेटने गयीं तो उनके मन में थोड़ी चिन्ता अवश्य हो रही थी। दक्षिण के लुसियाना प्रान्त के वायो टेचे में हमारी गन्ने की खेती होने से वहाँ हमारे अनेक मित्र होने के कारण हमारे अतिथियों में से कुछ दक्षिणी अंचल के थे। ये दक्षिणी लोग श्वेतांग लोगों के अतिरिक्त बाकी सभी के प्रति तीव्र अरुचि का भाव रखते थे, क्योंकि उनके मन में यह मूर्खतापूर्ण विचार बद्धमूल था कि साँवले वर्णवाले सभी लोग मानसिक तथा सामाजिक दृष्टि से उनके निग्रो दासों के ही समतुल्य हैं। स्वयं मेरी नानी के मन में रंग के विषय में कोई पूर्वाग्रह न था, और इतना समझने के लिए उनमें यथेष्ट बुद्धि थी कि भारतीय भी उसी काकेशीय वंश के हैं, जिसके कि हम स्वयं।

नानाजी की नींद खुलने पर उन्होंने उनको भी इस समस्या से अवगत कराते हुए कहा कि यह निश्चित करना होगा कि स्वामीजी तथा दक्षिणी अंचल के अतिथियों को एक साथ रखना चलेगा या नहीं। नानी ने यह भी कहा कि आवश्यकता पड़ी तो स्वामीजी को पड़ोस में ही स्थित ऑडिटोरियम होटल में भी रखा जा सकता है। नाश्ते के आधा घण्टा पूर्व ही नानाजी कपड़े पहनकर पुस्तकालय-कक्ष में अखबार पढ़ने गये। वहाँ उनकी स्वामीजी के साथ बातचीत हुई और जलपान की व्यवस्था होने के पूर्व ही वे आकर नानी से बोले, "एमिली, हमारे सारे अतिथि चले जायँ, तो भी मैं बिल्कुल परवाह नहीं करूँगा। हमारे घर में अब तक जितने भी लोग आ चुके हैं, उनमें से ये भारतवासी ही सर्वाधिक बुद्धिमान तथा रोचक हैं और ये जब तक चाहें यहीं ठहरेंगे।" तब से उन दोनों के बीच घनिष्ठता का सूत्रपात हुआ और इसी के फलस्वरूप जब स्वामीजी ने शिकागो क्लब के उनके अन्य मित्रों के समक्ष कहा, "मैं अब तक जितने भी लोगों से मिला हूँ, मेरा विश्वास है कि उनमें श्रीयुत ल्योन का ही ईसा के साथ सर्वाधिक साम्य है" – तो नानाजी ने बड़े संकोच का अनुभव किया था।

स्वामीजी को मेरी नानी के प्रति खूब निकटता का बोध होता, क्योंकि उन्हें देखते ही उन्हें अपनी माता की स्मृति हो आती थी। नानी का शरीर ठिगना तथा सीधा था और उनमें शान्त स्वाभिमान एवं आत्मविश्वास, उत्तम प्रत्युत्पन्न-बुद्धि और शुष्क हास-परिहास का भाव था, जिसे स्वामीजी खूब पसन्द करते थे। केवल छह वर्षों की मैं और मेरी विधवा माँ – उन्हीं के साथ रहा करते थे। स्वामीजी मेरी माता के साथ बातें करके उनका दुख दूर करने का प्रयास करते थे। मेरे नानी तथा माता धर्मसभा में और बाद में भी होनेवाले उनके प्राय: हर व्याख्यान में उपस्थित रहतीं। मैं जानती हूँ कि अपने युवा पति की मृत्यु से खूब शोकाकुल मेरी युवती माँ की उन्होंने बड़ी सहायता की थी। बाद में माँ ने स्वामीजी की पुस्तकें पढ़ीं, उन पर मनन किया और उनके उपदेशों का पालन करने का प्रयास किया।

अपने घर के ठहरे अतिथि के रूप में उनकी यादें – उनकी ज्वलन्त आँखों, मधुर कण्ठ-स्वर तथा अत्यन्त आत्मीय जनों

के समान मृदु हास्य – मेरी बचपन की स्मृतियों में अब भी सजीव हैं। वे मुझे भारत की कथाएँ – बन्दरों, मयूरों, हरियल तोतों, वटवृक्षों, तरह तरह के फूलों तथा रंग-बिरंगे फल-सब्जियों से पटे बाजारों की बातें सुनाया करते। वे सब मुझे परी-कथाओं के समान लगतीं, परन्तु भारतीय सड़कों से होकर सैकड़ों मील यात्रा करने के बाद अब मुझे अनुभव होता है कि वे केवल अपने बचपन की स्मृतियों के दृश्यों का ही वर्णन कर रहे थे। घर में उनके लौटते ही मैं उनकी ओर दौड़ पड़ती और गोद में चढ़कर हठ करने लगती – स्वामीजी एक और कहानी बताइये न ! अपने घर से इतने दूर और इतने विचित्र देश में शायद उन्हें एक बच्ची के प्रेम तथा उत्साह में विश्राम प्राप्त होता था। वे मुझे सदा ही अद्भुत लगे। तथापि, चूँकि एक बालक संवेदनशील होता है; मुझे ऐसे अवसरों की भी याद है, जब मैं दौड़कर उनके कमरे में गयी और यदि वे ध्यान में डूबे होते, तो सहसा लगता कि वे नहीं चाहते कि मैं उसमें व्यवधान डालूँ।

मैं स्कूल में क्या पढ़ती हूँ – इस विषय में वे मुझसे अनेक प्रश्न करते और अपनी पाठ्य-पुस्तकें दिखाने को कहते। मुझे याद आता है कि उन्होंने मानचित्र पर गुलाबी रंग में चिह्नित भारत को दिखाया और अपने देश की अनेक बातें बतायीं। वे यह सोचकर बड़े दुखी प्रतीत होते थे कि भारत की छोटी बच्चियों को अमेरिकी बच्चियों के समान प्राय: उत्तम शिक्षा पाने का अवसर नहीं मिलता। जब बेलूड़ मठ के अध्यक्ष स्वामी शंकरानन्द जी ने मुझे बताया कि उन्होंने कलकत्ते में बालिकाओं के लिए एक विद्यालय की स्थापना की है, तो आप सोच सकते हैं कि मुझे कितना आनन्द हुआ होगा !

मेरी नानी नारी-निकेतन के अस्पताल की अध्यक्ष थीं। स्वामीजी बड़ी ही जीवन्त रुचि के साथ उसे देखने गये और शिशु-मृत्यु आदि से सम्बन्धित सभी आकड़ों को मँगाकर देखा। इससे भी यह पता चलता है कि वे हमारे देश में कितना कुछ सीख रहे थे, ताकि वे अपने देशवासियों की सेवा में इसका उपयोग कर सकें, क्योंकि मुझे बताया गया कि बाद में (मिशन के द्वारा) एक जच्चा-बच्चा अस्पताल* की भी स्थापना की गयी थी। यह सब जानकर मेरी नानी कितनी प्रसन्न हुई होती !

वे अपनी पगड़ी को पहनते समय हर बार जिस प्रकार घुमा-घुमाकर बाँधते, वह मुझे बड़ा मजेदार प्रतीत होता ! उसे देखने के लिए मैं उसे बारम्बार खोलकर बाँधने को कहती।

हमारे अमेरिकी भोजन में अधिक मसाला नहीं डालते। नानी को भय था कि कहीं हमारा खाना उन्हें पसन्द न आये।

* कलकत्ते का 'रामकृष्ण मिशन शिशुमंगल प्रतिष्ठान', जो अब अन्य विभागों के साथ 'सेवा-प्रतिष्ठान' के नाम से वहाँ के सर्वागपूर्ण तथा सर्वप्रमुख अस्पताल के रूप में विख्यात है।

परन्तु स्वामीजी ने बताया कि वे जहाँ कहीं भी रहते हैं, वहीं के खानपान के साथ अपने को समायोजित कर लेने का प्रयास करते हैं। उन्हें जो कुछ भी दिया जाता, वही सन्तोषपूर्वक खा लेते। नानी सलाद बनाते समय थोड़े तीखे सॉस का उपयोग करती थीं। स्वामीजी को उसकी बोतल देते हुए उन्होंने कहा, "आप चाहें तो इसमें से दो-एक बूँद अपने भोजन में डाल सकते हैं।" स्वामीजी ने उसे लेकर अपने खाने पर इतनी अधिक मात्रा में छिड़क दिया कि हम लोग सहमकर कह उठे, "इतना नहीं चलेगा, यह बहुत तीखा है।" वे केवल हँस दिये और खूब आनन्द के साथ खाने लगे। इसके बाद से नानी हमेशा सॉस की एक बोतल उनके पास रख दिया करती थीं।

एक शुक्रवार के दिन मेरी माँ पहली बार उन्हें सिम्फोनी कन्सर्ट (संगीत-समारोह) सुनवाने ले गयीं। उन्होंने अत्यन्त मनोयोग के साथ उसे सुना, परन्तु उनका सिर थोड़े हास्यास्पद भाव के साथ एक ओर झुका रहा। अन्त में माँ ने पूछ ही लिया, "आपको पसन्द तो आया न !" उन्होंने कहा, "हाँ, बहुत अच्छा लगा।" तो भी माँ को लगा कि वे खुले दिल से नहीं बोल रहे हैं, अत: उन्होंने पूछा, "आप क्या सोच रहे हैं?" स्वामीजी ने उत्तर दिया, "पहली बात जो मेरी समझ में नहीं आती, वह यह है कि कार्यसूची में ऐसा क्यों कहा गया है कि शनिवार की शाम को भी ठीक यही कार्यक्रम दुहराया जायेगा। देखिए, भारत में सुबह एक तरह का संगीत होता है, दोपहर का संगीत बिल्कुल भिन्न प्रकार का होता है और संध्या के सुर भी पूर्णत: अलग तरह के होते हैं, अत: रात हो जाने पर वह आपके कानों में बेसुरा प्रतीत होगा। दूसरी चीज जो मुझे विचित्र लगती है, वह यह कि इस संगीत में मूर्छना का अभाव है तथा सुरों के बीच भी काफी अन्तराल है। आप मुझे जो सुन्दर स्विस-पनीर खाने को देती हैं, यह भी उसी के समान मुझे छिद्रों से भरा हुआ लगा।"

जब उन्होंने व्याख्यान देने प्रारम्भ किये, तो लोग उन्हें उनके भारतीय कार्य के लिए पैसे देने लगे। परन्तु उनके पास कोई बटुआ न था, अत: वे उन्हें रूमाल में बाँधकर एक छोटे गर्वीले शिशु के समान ले आते। घर में लाकर वे उसे अपने हिसाब में रख देने के लिए नानी की गोद में ढाल देते। नानी ने उनका विभिन्न सिक्कों के साथ परिचय कराया और यह भी सिखा दिया कि किस प्रकार उन्हें गिन-गिनकर अलग अलग ढेरियों के रूप में सजाया जाता है। उनके श्रोतागण इतने दूर देश के लोगों की आनन्दपूर्वक सहायता कर रहे थे, जिन्हें उन्होंने कभी देखा तक नहीं और उनकी इस उदारता के बारे में सोचकर स्वामीजी भावविभोर हो जाते।

एक दिन स्वामीजी ने मेरी नानी को बताया कि वे अपने अमेरिकी जीवन के एक सबसे बड़े प्रलोभन में पड़ गये हैं।

नानी ने उन्हें थोड़ा चिढ़ाने की दृष्टि से कहा, "वह लड़की कौन है, स्वामीजी?" इस पर वे ठठाकर हँसते हुए बोले, "लड़की नहीं, वह है 'संगठन'।" फिर समझाते हुए उन्होंने बताया कि श्रीरामकृष्ण के शिष्यगण एकाकी ही भ्रमण किया करते हैं और किसी गाँव में पहुँचने पर वहीं एक वृक्ष के नीचे आसन बिछाकर बैठे, उपदेश देने को किसी जिज्ञासु के आने की बाट जोहते हैं। परन्तु अमेरिका में आकर वे समझ गये हैं कि **संघबद्ध होकर कार्य करने से वह कितना फलदायी हो सकता है**। तो भी उनके मन में खटका था कि भारत-वासियों के लिए किस प्रकार का संगठन ग्रहणीय होगा। इस विषय पर उन्होंने काफी अध्ययन तथा चिन्तन किया था कि पाश्चात्य जगत् में उन्हें जो कुछ अच्छा लग रहा था, उसे वे किस प्रकार अपने देश की जनता के लाभार्थ अपना सकेंगे। मैं देखती हूँ कि बेलूड़ मठ तथा उसके विविध जनहितकर कार्य उनके इसी काल के जीवन का परिणाम है। मैं पहले ही बता चुकी हूँ कि उनकी बातचीत में थोड़े आयरिश उच्चारण का पुट होने के कारण वह बड़ा मजेदार लगता था। उसका पुनः स्मरण करने पर स्वामी शंकरानन्द को बड़ा विस्मय हुआ। मेरे नाना उनके उच्चारण की उस विशेषता को लेकर उपहास किया करते थे। पर स्वामीजी ने बताया यह विशेषता उनमें सम्भवत: उनके प्रिय आयरिश प्राध्यापक के कारण आयी होगी, जो डबलिन के ट्रिनिटी कॉलेज के स्नातक थे।

स्वामीजी के जाने के बाद मेरी माँ प्राच्य दर्शन का थोड़ा अध्ययन करने को उत्सुक थीं, क्योंकि उन्हें लग रहा था कि उनकी शिक्षाओं को भलीभाँति समझने के लिए उनमें यथेष्ट तैयारी नहीं है। अगली सर्दियों में श्रीमती पीक नामक एक महिला ने शिकागो में कुछ कक्षाएँ आरम्भ की थीं और उनमें माँ यह देखकर अत्यन्त विस्मित हुईं कि यदि वे किसी पत्र के छोटे छोटे टुकड़े करके हाथ में लिए रहें, तो उन्हें उसके लेखक के शारीरिक तथा मानसिक – दोनों ही प्रकार के गठन के बारे में एक संक्षिप्त परन्तु स्पष्ट विवरण ज्ञात हो जाता था। करीब एक बर्ष बाद जब स्वामीजी पुन: व्याख्यान देने शिकागो आये, तो माँ ने उनसे इस विचित्र क्षमता के बारे में पूछा। उन्होंने बताया कि उनमें भी यह शक्ति है और जब वे छोटे थे तो मजा लेने के लिए इसका प्रदर्शन किया करते थे, परन्तु श्रीरामकृष्ण ने उन्हें आड़े-हाथों लिया और कहा था, "मानवता की भलाई को छोड़ अन्य किसी भी उद्देश्य के लिए इस महान् शक्ति का उपयोग न करना। जिन हाथों को यह क्षमता मिली है, उन्हीं में पीड़ा से राहत पहुँचाने की भी क्षमता है। राहत पहुँचाने में ही इस क्षमता का प्रयोग करना!"

अपने इस दूसरे दौरे पर वे थोड़े समय के लिए ही हमारे घर ठहरे। वे जानते थे कि यदि उन्हें उपयुक्त भोजन तथा ध्यान करने को यथेष्ट समय मिले, तो वे प्रचार-कार्य और भी भलीभाँति कर सकेंगे। साथ ही उन्हें एक ऐसे स्थान की भी जरूरत महसूस हो रही थी, जहाँ वे सहायता के लिए आनेवालों के साथ स्वाधीन भाव से मिल-जुल पाते। इसीलिए नानी ने उनके लिए एक छोटा-सा पर सुविधायुक्त फ्लैट ढूँढ़ने में सहायता की थी, पर मैंने उसे देखा हो ऐसा याद नहीं आता।

स्वामीजी का व्यक्तित्व ऐसा क्रियाशील तथा आकर्षक था कि अनेक महिलाएँ उन पर बड़ी मुग्ध हो जातीं और कई तरह

हे विवेकानन्द अप्रतिम दिव्य-वाणी देवता

डॉ. शंकर लाल स्वामी

आपने इस देश के जीवन को अनुशासित किया।
धर्म औ अध्यात्म को, सुलझा के परिभाषित किया।।
थी विदेशों की नजर में, देश की छवि दीन तब।
आपने वेदों का सच्चा ज्ञान विज्ञापित किया।।
देशनिष्ठा भर दिया युवकों के दिल में आपने।
प्रेरणा अभिनव जगाकर, ज्ञान विस्तारित किया।।
आदमी का आदमी से भेद का कर खातमा।
नर में नारायण का सेवा-धर्म सुस्थापित किया।।
दिशा जीवन की दिखाई, प्रेम के पथ को दिखा।
सत्य, शिव, सुन्दर के तात्पर्यों को उद्घाटित किया।।
हिन्द का वेदान्त-दर्शन है जो जीवन-पद्धति।
धर्म को युग के लिए, फिर से सु-व्याख्यायित किया।।
पूर्ण हैं परमात्मा, है पूर्ण उनकी कृति जगत।
आदमी तो मूलतः है दिव्य - उद्भासित किया।।
हे विवेकानन्द अप्रतिम दिव्य-वाणी देवता।
आपने जाकर जगत् में सबको सम्मोहित किया।।
विषय समझाने में कोई आपकी सानी न था।
पूर्व-पश्चिम के सभी ने, खूब सम्मानित किया।।
शान्ति-सुख-आनन्द सत्-चित् और जीवन अमरता।
जानने के वास्ते जग-जन को लालायित किया।।
समय की शुभ कोख से आये थे वे स्वामी यती।
निज विमल यशकीर्ति से, यह विश्व आप्लावित किया।।

से चापलूसी करके उनका ध्यान आकृष्ट करने की चेष्टा करतीं। तब भी वे युवा ही थे और अपनी महान् आध्यात्मिकता तथा कुशाग्र बुद्धि के बावजूद बड़े असांसारिक लगते। मेरी नानी को बड़ा भय होता कि कहीं वे किसी अनुचित या असुविधाजनक परिस्थिति में न पड़ जायँ और उन्होंने स्वामीजी को थोड़ा चेताने का प्रयास भी किया था। यह बात उन्हें संवेदनापूर्ण तथा मनोरंजक भी प्रतीत हुई। उन्होंने नानी का हाथ थपथपाते हुए कहा, "श्रीमती ल्योन, आप अमेरिका की मेरी स्नेहमयी माँ हैं! मेरे लिए आप बिल्कुल भी चिन्तित न हों। कभी मैंने किसी किसान द्वारा दी गयी रोटियाँ खाते हुए वटवृक्ष ने नीचे सोकर भी दिन बिताएँ हैं और फिर कभी कभी मैंने महाराजाओं के महल में भी आतिथ्य ग्रहण किया है, जहाँ दासियाँ मयुरपुच्छ के पंखों से मुझे रात भर हवा करती रहती थीं। मैं प्रलोभनों का अभ्यस्त हूँ, अत: आप मेरे लिए परेशान न हों।"

स्वामी शंकरानन्द से बातचीत करने तथा उनके उत्साहित करने पर मुझे लगा कि कितना अच्छा होता यदि मैंने अपनी छोटी मौसी कैथरिन (श्रीमती राबर्ट डब्ल्यू. हैमिल) से उनकी स्वामीजी-विषयक स्मृतियों के बारे में जानकारी हासिल की होती! अत: जब मैं स्वदेश वापस लौटी, तो मैंने उनसे पूछा कि क्या वे मेरी बिखरी हुई स्मृतियों में कुछ योगदान कर सकती हैं। वे विवाहित थीं और अपने खुद के घर में रहती थीं, इसलिए वे अपने पितृगृह में अधिक नहीं रही थीं। मेरे ही समान उन्हें भी स्वामीजी की याद थी, परन्तु उन्होंने उनका कोई व्याख्यान नहीं सुना था। तथापि उन दिनों वे तथा उनके पति 'युवा बुद्धिजीवी' थे और हमारे विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों, संवादपत्रों से जुड़े कुछ युवकों का एक दल उनसे जुड़ा था।

एक रविवार की शाम को जब वे उन लोगों को स्वामीजी की विलक्षणता के विषय में बता रही थीं, तो इस पर उन लोगों ने कहा कि आज के वैज्ञानिक तथा मनो-वैज्ञानिक उनके धर्म-विश्वासों को क्षण मात्र में फूँक मारकर उड़ा देंगे। वे बोलीं, "अगले रविवार की संध्या को यदि मैं उन्हें यहाँ लाने को राजी कर सकी, तो क्या आप सभी यहाँ आकर उनसे मिलना पसन्द करेंगे?" वे लोग सहमत हुए और एक अनौपचारिक निशा-भोज के समय उन लोगों की स्वामीजी की भेंट हुई। मौसी को यह स्मरण नहीं है कि उस समय किस विषय पर चर्चा हुई थी, परन्तु इतना अवश्य याद है कि वह पूरी शाम बड़े सजीव तथा हर तरह के विचारों पर, रोचक वाद-विवाद में बीती थी। कैथरिन मौसी ने बताया कि बाइबिल तथा कुरान के साथ ही स्वामीजी को प्राच्य धर्मों के बारे में विशद ज्ञान था और विज्ञान तथा मनोविज्ञान पर भी उनकी अद्भुत पकड़ थी। सभा भंग होने के पूर्व ही शंकालु विद्वानों की उस मण्डली ने हार मानते हुए यह स्वीकार कर लिया कि प्रत्येक विषय में स्वामीजी अपना मत स्थापित करने में सफल हुए हैं और हार्दिक प्रशंसा तथा प्रेमभाव के साथ वे लोग विदा हुए।

जब मैं स्वामी शंकरानन्द से मिलने गयी, तो मुझे लग रहा था कि लिपिबद्ध करने की दृष्टि से ये स्मृतियाँ बड़ी बचकानी तथा साधारण हैं। इसलिए मुझे व्यर्थ ही दूसरों का समय लेने के लिए खेद का भी अनुभव हुआ, परन्तु उन्होंने इतने कृपालु तथा उदार शब्द कहे, जिन्हें मैं कभी भूल नहीं सकती। वे बोले – प्रत्येक महापुरुष का जीवन मानो अनेक पहलुओं का एक रत्न है। इस रत्न का प्रत्येक पहलू महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वह उसके चरित्र के एक विशेष पहलू को उजागर करता है। मैं उनके पास स्वामीजी के चरित्र का एक ऐसा पहलू व्यक्त करने आयी हूँ, जिसका स्वामीजी के बारे में – भारत से विदा लेने के बाद हमारे घर में बिताये गये सप्ताहों के – उनके रेकार्डों में अभाव था। अत: मैं उनके जीवन के इस छोटे-से 'पहलू' को उन्हीं की स्मृति में अर्पित करती हूँ, जिन्होंने हमारे घर में निवास किया था और जिन्हें मैं एक आचार्य या आध्यात्मिक नेता के रूप में नहीं, बल्कि एक अद्भुत तथा सजीव मित्र के रूप में, इन पूरे ६२ वर्षों से प्रेम करती रही। ❑❑❑

गौरवमूर्ति विवेकानन्द

विजयन्त सिंह ठाकुर

श्रद्धा के सुमन हमारे लो, हे नवभारत के अग्रदूत!
जाग्रत विवेक, आनन्दमूर्ति, वैदिक ऋषियों के हे सपूत।
सत्य सनातन, धर्मसूत्र के अद्वितीय व्याख्याता,
स्वर्णिम भारत के नवद्रष्टा, निष्ठावान विधाता।
विश्वधर्म सम्मेलन के हे कुशल श्रेष्ठ अधिवक्ता,
स्वप्रकाश, अविभूत, सर्वहित, चिन्तक, धर्मप्रवक्ता।
परमहंस श्रीरामकृष्ण की धर्मशक्ति के धारक,
गौरव घट में संचित है, अमृत जीवन-उद्धारक।
नव आदर्शों के प्रतिपादक, अभय ज्योति के पुंज,
मानवता की शरण-स्थली, हे शाश्वत शान्ति निकुंज।
सुरभित विराग, कर्मठ उदार, ओजस्वी वाणी के साधक,
श्रद्धा के सुमन, हमारे लो, हे जन मन के चिर सम्मोहक!

मानस का रामराज्य

स्वामी आत्मानन्द

गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'राम-चरित-मानस' में 'रामराज्य' का बड़ा सुन्दर चित्र खींचा है और बताया है कि वह मात्र एक सैद्धान्तिक कल्पना ही नहीं, बल्कि यथार्थ का सत्य भी हो सकता है, यदि रामराज्य के आधारभूत तत्त्वों को जीवन में उतारने की चेष्टा की जाय। गोस्वामीजी 'मानस' में इन तत्त्वों के सूत्र-संकेत के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। हम उन सूत्रों को पकड़ने की चेष्टा करेंगे।

गोस्वामीजी का प्रथम संकेत यह है कि रामराज्य की स्थापना पहले अयोध्या में नहीं होती, अपितु चित्रकूट में होती है और केवट उसका प्रथम नागरिक होता है। भले ही महाराज दशरथ का संकल्प था कि रामराज्यं की स्थापना अयोध्या में हो और इसके लिए उन्होंने श्रीराम के युवराज पद पर अभिषेक की घोषणा भी कर दी थी, पर उनकी योजना पूरी नहीं हो पायी। इसके कारणों पर विचार करने से रामराज्य की बाधाओं का सम्यक् ज्ञान होता है। दशरथ ने यह घोषणा तो कर दी कि कल श्रीराम को युवराज पद पर आसीन किया जायगा, पर क्या उनका आचरण रामराज्य के अनुकूल था? कहाँ उन्हें उस पुनीत कार्य के निमित्त व्रत और सयम की रात्रि व्यतीत करनी चाहिए थी और कहाँ वे अपनी आसक्ति के केन्द्र कैकेयी के पास जाते हैं। जहाँ पर दशरथ का काम, कैकेयी का क्रोध और मन्थरा का लोभ हो, उस अयोध्या में रामराज्य की स्थापना भला कैसे हो सकती है? रामराज्य का तात्पर्य ही है – काम, क्रोध और लोभ के आवेशों का नियंत्रण। जो व्यक्ति अपने जीवन में ऐसा करने में समर्थ होगा, उसमें रामराज्य का अवतरण होगा। जो समाज अधिकतर ऐसे व्यक्तियों के समुदाय से निर्मित होगा, वह रामराज्य का अधिकारी होगा। इसीलिए हमने कहा कि रामराज्य की प्रथम् स्थापना चित्रकूट में होती है और केवट उसका प्रथम नागरिक बनता है। जब भरत जी श्रीराम को अयोध्या वापस लौटाने चित्रकूट पहुँचते हैं, तब तक श्रीराम के उदात्त जीवन से वहाँ रामराज्य बन चुका होता है। जब श्री भरत चित्रकूट के समीप पहुँचते है, तो उन्हें सर्वत्र रामराज्य की आभा दृष्टिगत होती है। गोस्वामी जी 'मानस' में लिखते हैं –

ईति भीति जनु प्रथा दुखारी।
त्रिविध ताप पीड़ित ग्रह मारी॥
जाइ सुराज सुदेस सुखारी।
होहिं भरत गति तेहि अनुहारी॥
राम बास बन संपति भ्राजा।
सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजा॥
सचिव बिरागु विवेकु नरेसू।
बिपिन सुहावन पावन देसू॥
भट जम नियम सैल रजधानी।
सांति सुमति सुचि सुंदर रानी॥
सकल अंग सम्पन्न सुराउ।
रामचरन आश्रित चित चाउ॥
जीति मोह महिपालु दल
सहित विवेक भुआलु।
करन अकंटक राजु पुरँ
सुख संपदा सुकालु॥ २/२३५

– अर्थात् जब श्री भरत चित्रकूट के क्षेत्र में पहुँचे, तो उन्हें लगा – ''अतिवृष्टि, अनावृष्टि, चूहों, टिड्डियों और तोतों के उत्पात तथा दूसरे राजा की चढ़ाई – इन छह उपद्रवों के भय से दुखी हुई तथा तीनों तापों, क्रूर ग्रहों और महामारियों से पीड़ित प्रजा मानो किसी उत्तम देश और उत्तम राज्य में जाकर सुखी हो गयी है। श्रीराम के निवास से वन की सम्पत्ति ऐसी सुशोभित है, मानो अच्छे राजा को पाकर प्रजा सुखी हो। सुहावना वन ही पवित्र देश है। विवेक उसका राजा है और वैराग्य मत्री है। यम यानी अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह तथा नियम यानी शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान योद्धा हैं। पर्वत राजधानी है, शान्ति एव सुबुद्धि – दो सुन्दर पवित्र रानियाँ हैं। वह श्रेष्ठ राजा राज्य के स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोष, राष्ट्र, दुर्ग और सेना – इन सात अंगों से पूर्ण है और श्री रामचन्द्र के चरणों के आश्रित रहने से उसके चित्त में चाव हैं। मोह-रूपी राजा को सेनासह जीतकर विवेक-रूपी राजा निष्कण्टक राज्य कर रहा है। उसके नगर में सुख, सम्पत्ति और सुकाल वर्तमान है। बेल, वृक्ष, तृण – सब फल और फूलों से युक्त हैं। सारा समाज आनन्द और मगल का मूल बन रहा है।''

इन शब्दों में गोस्वामीजी ने रामराज्य का चित्रण किया। वे संकेत देते हैं कि अयोध्या में रामराज्य तब बना, जब श्री भरत अपने चौदह वर्षों की कठोर तपस्या और सयम से वहाँ की काम, क्रोध और लोभमूलक प्रवृतियों को दूर करने में सफल हुए। उधर श्रीराम चित्रकूट से अयोध्या लौटना स्वीकार नहीं करते और वन को चले जाते हैं और इधर भरत

जैसे महान् सन्त चौदह वर्षों तक अपने दिव्य चरित्र के द्वारा ऐसा यज्ञ प्रज्वलित करते हैं कि उसकी अग्नि में अयोध्या का सारा कलुष, सारी वासना दग्ध हो जाती है, समस्त बुराइयों का नाश हो जाता है। और तब श्रीराम का राज्य अयोध्या में स्थापित होता है। श्रीराम चौदह वर्षों तक बाह्य शत्रुओं का नाश करते हैं और आन्तरिक शत्रुओं का विनाश श्री भरत करते हैं। इस प्रकार जब बाह्य और आन्तरिक शत्रु विनष्ट हो जाते हैं, तब रामराज्य बनता है। रामराज्य केवल बाहर से नहीं बनता। बाहर और भीतर दोनों से बनता है। जब तक अयोध्या में मन्थरा है और लंका में शूर्पणखा, तब तक रामराज्य नहीं आ सकता। मन्थरा है – लोभवादी विचार-धारा और शूर्पणखा – भोगवादी विचार-धारा। जब तक समाज में लोभ और वासना का साम्राज्य है, तब तक रामराज्य नहीं बनेगा। रामराज्य तब बनेगा, जब हममें यज्ञ-कर्म का उदय होगा तथा भरत-चरित्र के रूप में परम त्याग प्रकट होगा। जब अयोध्या में यह भरत-रूप दिव्य आत्म-त्याग उपस्थित होता है, तब वहाँ रामराज्य की भूमिका निर्मित होती है और श्रीराम खिंचकर भरत से मिलने के लिए व्यग्र होकर अयोध्या लौट आते हैं।

जब श्रीराम वन से अयोध्या लौट आते हैं, तो गुरु वसिष्ठ कहते हैं कि राघवेन्द्र को राज्याभिषेक के लिए स्नान करा दो। सेवक उन्हें स्नान कराने के लिए प्रवृत्त होते हैं, पर श्रीराम कहते हैं – "मुझे गुरुदेव की आज्ञा शिरोधार्य है, मैं स्नान करूँगा, 'पर प्रथम सखन्ह अन्हवावहु जाई' – पहले मेरे मित्रों को स्नान कराओ।" उनके मित्र कौन हैं? – बन्दर ! अर्थात् रामराज्य का श्रीगणेश राजा से नहीं, अपितु सबसे नीचे के व्यक्ति से – बन्दरों से हुआ। रामराज्य का तात्पर्य यह नहीं कि सुख का बँटवारा ऊपर से हो और वह नीचे तक पहुँच ही न पावे, बल्कि यह कि सुख सबसे नीचेवाले व्यक्ति से शुरू हो और अन्त में सबसे ऊपरवाले के पास पहुँचे। तात्पर्य यह कि जब भी रामराज्य शुरू होगा, वह वन से, गिरिजनों से होगा और सबसे बाद में नगर के लोग उसके नागरिक बनेंगे। इसीलिए बन्दरों को सबसे पहले स्नान कराया गया।

फिर श्रीराम अपने तीनों भाइयों को अपने हाथ से नहलाते हैं – 'अन्हवाए प्रभु तीनिउ भाई।' वे अपने हाथ से श्री भरत की जटाओं को खोलकर सुलझाते हैं – 'निज कर राम जटा निरुआरे।' और जब वे स्वयं स्नान करते हैं तो और किसी को स्नान नहीं कराने देते, अपितु अपने ही हाथों से अपनी जटा सुलझाते हैं और नहाते हैं – 'पुनि निज जटा राम बिबराए। गुरु अनुसासन मागि नहाए।' यही रामराज्य का रूप है। राजा स्वय सत्ता का नहीं, सेवा का प्रेमी है। श्रीराम सोचते हैं कि रामराज्य तो भरत ने बनाया है, अतः पहले उसकी सेवा कर लें। लका का युद्ध वानरों ने जीता है, अतः सेवा प्राप्त करने का प्रथम अधिकार उनका है। वे स्वय किसी की सेवा नहीं लेते, हजारों सेवकों और उत्कृष्ट अनुजों के होते हुए भी, वे अपना सारा कार्य स्वयं ही करते हैं।

स्नानादि से निवृति हो, वस्त्राभूषण धारण कर बाद में वे अयोध्या के नागरिकों को बुलाते हैं और उनसे कहते हैं –

सोई सेवक प्रियतम मम सोई।
मम अनुसासन मानै जोई॥

– 'मुझे वे ही प्रिय हैं, जो मेरे अनुशासन का पालन करेंगे।' अनुशासन क्या है? वे बतलाते हैं –

जौं अनीति कछु भाषौं भाई।
तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥

– 'यदि मुझसे नीति के विरुद्ध कोई कार्य हो, तो आप लोग बिना किसी भय के मुझे रोक दें।' यही राजा राम का अनुशासन है और 'मानस' का रामराज्य है, जिसके सम्बन्ध में गोस्वामी जी लिखते हैं –

अल्प मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा।
सब सुन्दर सब बिरुज सरीरा॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना।
नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥

– 'वहाँ कम उम्र में मृत्यु नहीं होती, किसी को कोई कष्ट नहीं है, सबका शरीर सुन्दर-निरोग है। न कोई दरिद्र है न दुखी, न कोई दीन है न मूर्ख और न ही कोई शुभ लक्षणों से रहित है।'

(आकाशवाणी, रायपुर से १६.१०.१९८३ को प्रसारित)

अनमोल उक्तियाँ

* जब तुम अनुभव करते हो कि तुम अकेले नहीं हो, तब विपत्ति का सामना अधिक अच्छी तरह से कर सकते हो।

* भाग्य के बारे में एक ही बात निश्चित है और वह यह कि उसे बदला जा सकता है।

* दुर्बल के मार्ग की बाधाएँ बलवान के मार्ग की सीढ़ियाँ बन जाती हैं।

* भलीभाँति की गयी तैयारी से भी साहस का टॉनिक प्राप्त होता है।

गीता में साधना की रूपरेखा (२/२)

स्वामी शिवतत्त्वानन्द

(रामकृष्ण मठ, नागपुर द्वारा प्रकाशित मराठी में 'भगवद्गीतेच्या अंतरंगात' अपने ढंग की अनूठी पुस्तक है। 'विवेक-ज्योति' में धारावाहिक प्रकाशन हेतु इसका हिन्दी रूपान्तर किया है श्रीमती ज्योत्सना किरवई ने, जिसे हम जनवरी अंक से क्रमशः प्रकाशित कर रहे हैं। – सं.)

इस प्रकार स्वकर्म के बोधयुक्त भक्तिपूर्ण अनुष्ठान से चित्त शुद्ध होने के कारण अन्दर-ही-अन्दर उन सत्य-स्वरूप प्रभु का प्रत्यय आने के कारण, उस आनन्द प्रत्यय में बाधा तथा विक्षेप उत्पन्न करनेवाले विषय-सम्पर्कों का तथा विषय-आसक्ति का त्याग उस आनन्द-स्वरूपी आत्मसत्ता में अधिकाधिक लीन होने की उत्कण्ठा तथा आकर्षण से बँधा यह कर्मसिद्ध साधक अब इसके बाद क्या करता है? इसके आगे का मार्ग वह किस तरह तय करता है। प्रभु बताते हैं –

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्काय-मानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ।।

अर्थात् वह फिर विविक्तसेवी बन जाता है। विविक्त अर्थात् निर्जन, शान्त, एकान्त स्थान। वह इस तरह के स्थान का सेवन करने लगता है। श्री शंकराचार्य कहते हैं – **विविक्तान् देशान् सेवितुं शीलम् अस्य** – अर्थात् "एकान्त स्थान का सेवन करना उसका स्वभाव बन जाता है।" क्योंकि यह एकान्त उस पर बाहर से थोपा हुआ नहीं है, अब उसे हृदय से ही एकान्त की चाह होने लगती है। क्योंकि अनेकान्त में उसका मन विक्षेपित होता है। उस सत्ता-प्रकाश-सुखस्वरूप ईश्वर में लीन होने में बाधा-रुकावट आने लगती है और इसीलिए उसे एकान्त अच्छा लगता है। सारांश यह कि स्वयं के शुद्ध बोध में, उस सच्चिदानन्द में अधिकाधिक डूब जाने की व्याकुलता से ही उसका सब कुछ उत्पन्न होता है। उसे अब स्वयं के सच्चे स्वरूप की खूब चाह लगी रहती है। इस चाह के बीच आनेवाली रुकावट अब उसे बिल्कुल भी अच्छी नहीं लगती।

हाँ, जरा भी अच्छी नहीं लगती। और इसलिए न केवल लोकसंग, अपितु अब वह साधक के खानपान पर भी नियंत्रण लाता है। अस्फुट रूप से अन्तर्बाह्य बोध में आनेवाले उन एकमेव-अद्वितीय प्रभु में डूब जाने में रुकावट न आये – यह सोचकर भोजन में उसके मन की जरा भी रुचि नहीं रहती।

और सिर्फ खाने पर ही क्यों, काया-वाणी तथा मन की सभी क्रियाओं पर वह ऐसे अन्तःस्फूर्त नियंत्रण ला देता है।

परन्तु ऐसी बात नहीं कि वह किसी का भी मुँह देखने की इच्छा नहीं करता, या खाता-पीता नहीं, या बोलता-चालता नहीं, या घूमता-फिरता नहीं: बल्कि इसका इतना ही अर्थ है कि वह ऐसा कुछ भी नहीं करता, जिससे प्रभु में अधिकाधिक डूबने में बाधा आए। क्योंकि लोकसंग टालना, हितकर-अल्प भोजन तथा काया-वाणी-मन की क्रियाओं पर नियंत्रण रखना – इन सबके कारण विक्षेप टलते हैं, और नींद-आलस्य आदि दोष साधना में बाधा नहीं ला पाते, जिसके परिणामस्वरूप मन प्रसन्न रहता है।

* * *

परन्तु भोग-विषय, भोग-स्पृहा, लोकसंग, जिह्वा-लालसा आदि का त्याग अर्थात् सब प्रकार के विक्षेपों को छोड़ना, यह तो उसकी साधना का नकारात्मक (अकरणात्मक) पक्ष, वह जो नहीं करता, उसका वर्णन हुआ। यह ठीक है कि वह यह सब नहीं करता, तो फिर वह करता क्या है? उसकी साधना की सकारात्मक (करणात्मक) पक्ष क्या है?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान बताते हैं – **ध्यानयोगपरो नित्यम्** – "वह निरन्तर ध्यानयोग-परायण रहता है।"

इसे स्पष्ट करते हुए श्रीधर स्वामी अपनी सुबोध पद्धति में कहते हैं – **नित्यं सर्वदा, ध्यानेन योगः ब्रह्म-संस्पर्शः, तत्परः सन्** – "ध्यान के द्वारा वह अब सदा प्रभु से संलग्न या संयुक्त रहने लगता है।"

'ध्यान' से क्या तात्पर्य है? ज्ञानेश्वर महाराज बताते हैं – **तेथ ध्येय ध्यान-ध्याता, ययां तिहीं एकरूपता** – उस कर्म-सिद्ध साधक के लिए वर्तमान आध्यात्मिक अवस्था में ध्यान का अर्थ है, इस मूलभूत परम सत्य का दृढ़तापूर्वक 'अनुभव' करने का प्रयत्न करना कि वे एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्द प्रभु ही ध्येय-ध्याता तथा ध्यान – तीनों रूपों में व्यक्त हो रहे हैं।

और इस अभेदबोध से ही वह अब उस सर्वातीत सर्वगत एकमेवाद्वितीय प्रभु से एकरूप सम्बद्ध या युक्त होता है, इस ध्यान से ही वह अब परमेश्वर से योग स्थापित करता है, प्रभु से युक्त होने के लिए उसे अब ज्ञानयोग (परोक्ष ज्ञान) की या भक्तियोग (वैधी भक्ति) की या कर्मयोग (क्रिया-अनुष्ठान) अर्थात् 'कर्मनिष्ठा' की उतनी जरूरत नहीं पड़ती। त्रियोगात्मक कर्मनिष्ठा का प्रयोजन उसकी दृष्टि में अब मानो समाप्त-सा हो चुका है। तभी तो भगवत्पूज्यपाद श्री शंकराचार्य ने इस अवस्था को **कर्मनिष्ठाजनित सिद्धि** कहा है। अब तो बस केवल 'ध्यान'-योग ! आचार्य कहते हैं – **नित्यम् – नित्यग्रहणं**

मंत्रजप-आदि-अन्य-कर्तव्यता-अभाव-प्रदर्शनार्थम् – अर्थात् "गीता ने 'नित्य-ध्यानयोग-पर' में जो 'नित्य' शब्द का प्रयोग किया है, वह यही दिखाने के लिए कि उस साधक को अब ध्यानयोग के अलावा मंत्र-जप आदि अन्य कुछ भी करने की आवश्यकता ही नहीं रहती।"

स्वाभाविक ही है। कर्मनिष्ठा के आचरण से उसके अन्तर में होनेवाला इन्द्रियों तथा मन का शोरगुल अब काफी कुछ शान्त हो जाने के कारण उसे अपने अन्तर में बसनेवाले उन हृदयेश्वर की, उन त्रिभुवनेश्वर की पुकार अब अन्दर से बिल्कुल स्पष्ट सुनाई देने लगती है – **माम् एव शरणं व्रज** – "केवल मुझ एकमेवाद्वितीय की शरण में आओ" और इसीलिए वह शीघ्रतापूर्वक सभी व्यवधानों की हटाकर, सभी विक्षेपों को दूर करके अब अपने उन आनन्दमय प्रियतम की सनातन पुकार का सतत प्रत्युत्तर देने लगता है। उसके इस समय के इस सतत के प्रत्युत्तर को ही परिभाषिक नाम दिया है – **ध्यानयोग**।

मान लीजिए कि एक ममतामयी माँ अपने अत्यन्त लाडले पुत्र के साथ खेल रही है। खेल खेल में वह दुलारती है, उसका चुम्बन लेती है, पुचकारती है, हृदय से लगा लेती है। यह सब वह पुत्र-प्रेम के कारण कर रही है और इन सारी क्रियाओं के कारण उसके हृदय में पुत्र-प्रेम और भी प्रबल होता जा रहा है। इस तरह एक ऐसा समय आता है कि खिलाना, दुलारना, पुचकारना आदि सब रुक जाता है। तब वह वात्सल्य-मयी माँ अपने उस लाड़ले को हृदय से लगाये आँखें मूँदकर केवल स्तब्ध-सी हो जाती है। इस स्थिति में खिलाने, दुलारने, पुचकारने आदि का अभाव नहीं रहता, बल्कि उन सब की 'परिणति', 'परिपूर्ति' हो जाती है ! प्रेमाधिक्य से खिलाने, दुलारने आदि सभी क्रियाओं का अन्त होकर अब वह अपने उस लाड़ले में पूर्णत: डूब चुकी होती है।

इस साधक के साथ भी ऐसा ही होता है। प्रभु के प्रेम में ही वह ज्ञान-भक्ति-कर्म के त्रियोग का आचरण करता है और उस त्रियोग आचरण से ही उसका प्रभु-प्रेम बढ़ता जाता है। होते होते ऐसी स्थिति आती है कि उसके लिए अब इस त्रियोग का – कर्मादि का, मंत्रजप आदि का उतना 'प्रयोजन' नहीं रह जाता। अर्थात् उनका 'अभाव' नहीं होता, अपितु प्रभु-प्रेम के अतिरेक से उन सबकी 'परिपूर्ति' होने लगती है। इसी को भगवती गीता कहती है – **ध्यानयोगपरः नित्यम्** !!

* * *

नियम्य – नियमन करके, **त्यक्त्वा** – त्याग करके, **व्युदस्य** – निकाल करके, **यत** – संयम करके आदि – यह तो हुआ उस कर्मसिद्ध साधक की वर्तमान साधना का निषेधात्मक (नकारात्मक) पक्ष और **ध्यानयोगपरो नित्यम्**, (सदैव ध्यानयोग द्वारा प्रभु से युक्त होने को तत्पर), यह हुआ करणात्मक पक्ष।

भगवान कहते हैं कि उस साधक को अब ये दोनों पक्ष बड़ी ही सहजता तथा सुगमता से सिद्ध होने लगते हैं, जमने लगते हैं, क्योंकि – **नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः** – "अब वह सदैव ही वैराग्य का उत्तम रीति से दृढ़ आश्रय लेता है।"

इस प्रकार के उज्ज्वल वैराग्य के कारण उसका चित्त भोगों से निकलकर निरन्तर प्रभु में डूबा रह सकता है। श्री शंकरानन्द सरस्वती कहते हैं – **एतत्-सिद्धये हेतुम् आह वैराग्यम् इति** –"भोग्य विषयों से वियोग कर प्रभु के ध्यान द्वारा उनसे योग साधित कर सकता है, इसका कारण उसका 'वैराग्य' है।"

और कर्मनिष्ठा के आचरण से चित्तशुद्धि हो जाने से हृदय में यह वैराग्य परिपूर्ण होने से कारण, अर्थात् वह किसी चीज की 'प्रतिक्रिया' न होकर आत्मबोध की 'क्रिया' स्वरूप का होने के कारण, वह क्षणिक या सामयिक नहीं होता, बल्कि नित्य होता है। वह उसकी मनो-'वृत्ति' ही बन जाती है। श्री शंकरानन्द कहते हैं – **ध्यानयोगपरो नित्यम् वैराग्यं समुपाश्रितः** – इस पंक्ति में 'नित्य' शब्द देहली-दीप-न्याय से 'ध्यानयोग' तथा 'वैराग्य' – दोनों पर ही लागू होता है। (देहली-दीप-न्याय अर्थात् जैसे कमरे की दहलीज पर रखा हुआ दीपक भीतर और बाहर – दोनो ओर प्रकाश देता है, वैसे ही 'नित्य' शब्द ध्यानयोग एवं वैराग्य इन दोनो से ही सम्बद्ध है।) श्री शंकराचार्य आदि ने भी 'नित्य' शब्द का ऐसा ही दोनों ओर सम्बन्ध दिखाया है।

और इस प्रकार के निर्मल वैराग्य के कारण, उसे अब अपने मन को भोगों में से निकालकर उसे ईश्वर में लीन करना कठिन नहीं लग सकता। साफ बात है, लोहे की अशुद्धि दूर होते ही वह चुम्बक की ओर खिंचने लगता है – चुम्बक का चिरंतन, सनातन, सहज आकर्षण उसे अन्तर ही अन्तर में अनुभव होगा ही ! नाव का 'लंगर उठाकर' चप्पू चलाते ही तेजी के साथ पानी का काटना शुरू होगा ही ! उस कर्मसिद्ध साधक का लोहा अब तक वैराग्य-वारि से धुलकर निर्मल हो चुका होता है; अपने वैराग्य के बल से वह विषय-रूपी चट्टानों में फँसा हुआ अपने नाव का लंगर निकाल चुका है, अत: भव-सागर का जल अब तेजी से कटता जाएगा ही !

सारांश यह कि अब वह 'ध्यानयोगपर' हो जाता है – ध्यान द्वारा परम प्रभु से योग ही उसकी दृष्टि में अब श्रेष्ठ बात हो जाती है। उसी में वह सदा निमग्न रहने का प्रयत्न करता है; केवल 'स्मरण-मनन' अब उसे रुचता नहीं, यथेष्ट नहीं लगता। और इस प्रकार प्रभु में डूब जाना ही वस्तुत: मुख्य बात है। (इन्द्रिय-मन का संयम, एकान्तवास, मिताहार आदि इस तरह से डूब जाने में सहायक मात्र होते हैं।) नहीं तो, केवल ऊपर ऊपर, सतह पर तैरना भर होगा। भगवान श्रीरामकृष्ण कहते थे – समुद्र में रत्न रहते है, पर वे उसके ऊपर नहीं तैरते, तल में रहते हैं, अत: यदि चाहिए तो डुबकी लगानी ही होगी,

गोता लगाना ही होगा। उसी प्रकार यह आत्म-रत्न हमारे बोध -सागर के बिल्कुल तल में है, उसे प्राप्त करने के लिए ध्यान द्वारा बोध के तल तक जाना ही होगा। ऊपर ऊपर तैरने से – केवल स्मरण-मनन-जप आदि से काम नहीं होगा।

विश्वासपूर्ण बोध तथा भाव के साथ स्वधर्म का ठीक आचरण करने से साधक को इस तरह से 'डूबने' की शक्ति प्राप्त होती है। कर्मयोग की महिमा ऐसी है, आदर्श साधक इस तरह व्यवहार करता है, अत: जिन्हें अपना हित साधना है, उन्हें इसी तरह का व्यवहार करना चाहिए।

* * *

अस्तु, उस अन्तर्यामी बोध में आनेवाले जीवितेश्वर में, उस अखिलाधार में अधिकाधिक निमग्न होना सम्भव बनाने के लिए वह कर्मसिद्ध साधक इन्द्रिय-मन का संयम, एकान्त-वास, सीमित आहार, लोक-संग-त्याग आदि सहायक सहकारी साधनों के अलावा और भी कुछ करता है क्या? प्रभु कहते हैं – "हाँ, वह और भी कुछ करता रहता है।" वह और अधिक क्या करता है – यह बताते हुए भगवान कहते हैं –

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तः ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।

वह अहंकार का त्याग करता है। इस साधक के सन्दर्भ में अहंकार का अर्थ 'गर्व' नहीं होता, क्योंकि 'गर्व' तो बड़ी स्थूल भावना है। और यह साधक तो अब 'स्थूल' दोषों का राज्य पीछे छोड़कर काफी आगे निकल चुका होता है। इसीलिए उसकी दृष्टि में अहंकार का अर्थ अब गर्व नहीं, बल्कि अहंकार का अर्थ अहंभावना – 'अस्मिता' या 'मैं' की भावना है। इसी को अँग्रेजी में individuality (वैयक्तिकता) कहते हैं। वह साधक अपने स्वान्त:करण में स्फुरित होनेवाले आत्मबोध की सहायता से इस वैयक्तिकता के बोध का भी त्याग करता है – आत्मज्ञान से अज्ञानजन्य अहंबोध उद्भासित करता जाता है।

इसी प्रकार वासना, आसक्ति या असदाग्रह के द्वारा उत्पन्न होनेवाले बल को भी वह त्याग देता है। ज्ञानेश्वर कहते हैं – विषयों का नाम सुनते ही मनुष्यों में यह बल चौगुना बढ़ जाता है ! यह कर्मसिद्ध साधक अन्तर के ज्ञानबोध से उस बल का भी दमन करता है। क्योंकि इस तरह के बल का स्फुरित होने का अर्थ ही है 'ध्यानयोग' में विक्षेप उत्पन्न होकर मन का 'मैं और मेरे' के राज्य में वापस लौटना। उस साधक को अब केवल डूबने की ही लगन लगी होती है, इसमें अब किसी भी प्रकार का विक्षेप उसे सहन नहीं होता। कर्मसिद्ध साधक इसी तरह का बर्ताव करता है – उसे ऐसा ही बर्ताव करना चाहिए, तभी वह साधना के 'मार्ग' पर अग्रसर होने में सफल होकर अन्तिम लक्ष्य तक पहुँच सकेगा। अन्यथा सिर्फ ऊपर ऊपर तैरते रहने से सब नष्ट हो जाएगा। इतना ही नहीं, बल्कि धीरे धीरे वह तैरना भी छोड़कर किनारे आने की – साधना-प्रवाह को छोड़कर भोग की धरती पर आने की इच्छा होने लगेगी !

ध्यान द्वारा प्रभु से युक्त होने के बीच आनेवाले सभी विक्षेपो को दूर करने के पुण्य प्रयत्नो में वह अहंकार तथा बल के समान ही दर्प का भी त्याग करता है। कोई बात इच्छानुसार होने से व्यक्ति को हर्ष होता है। इस हर्ष में वृद्धि होने से वह मद में परिणत होकर मन स्थूल-भाव धारण कर लेता है और 'मै-मेरा' की ओर आकृष्ट होकर प्रभु-ध्यान से विच्युत होने लगता है। इस हर्षजन्य मद को ही यहाँ दर्प कहा गया है। यह साधक इस दर्प का भी त्याग करता है – इच्छा-तृप्ति-जनित हर्ष की मद आदि प्रतिक्रियाओ का शिकार नही बनता।

काम अर्थात् इच्छा – किसी भोग्य वस्तु में रुचि और किसी लौकिक वस्तु से अरुचि को क्रोध कहते हैं। पसन्द या नापसन्द – दोनों का आधार विषयी-विषय-बोध ही है। अत: साधक काम-क्रोध के विक्षेप को भी ज्ञान-स्फुरण के द्वारा शान्त कर देता है।

और वह 'परिग्रह' (संग्रह-वृत्ति) का भी त्याग कर देता है। इन्द्रिय-मन के इन सभी दोषों को इस ज्ञान-स्फुरण के द्वारा दूर करने के बाद भी उसकी साधना में कोई अन्य दोष या बाधा आने की सम्भावना रहती है। वह दोष या बाधा यह है कि उसे जीवित रहने या साधना हेतु अवश्य ही कुछ वस्तुओं की जरूरत पड़ती है। उन जीवनोपयोगी वस्तुओं के बारे में संग्रह -वृत्ति होने पर साधक भला कैसे उन मायातीत एकमेवाद्वितीय प्रभु में पूर्णत: डूब सकेगा? ये मेरी वस्तुएँ हैं, इनके बिना मेरा कैसा चलेगा, न हाने पर उन्हें मुझे प्राप्त करना चाहिए, होने पर उन्हें भलीभाँति सँभालना होगा आदि भावों का उद्भव होने से उनसे विक्षेप पैदा होगा ही। ज्ञानेश्वर कहते है – "घर-बार छोड़कर वन में चले जाने पर भी यह 'परिग्रह' या संग्रहवृत्ति उसके मन में उस वन के पदार्थों से ममत्व पैदा करती है ! वह बिल्कुल दिगम्बर रहा, तो भी यह वृत्ति उसे अपने पाश में फँसा सकती है !" और इसीलिए भगवान कहते हैं कि यह साधक परिग्रह का भी त्याग कर देता है। ज्ञान-स्फुरण से इस परिग्रह या संग्रह-वृत्ति को आलोकित कर छोड़ देता है।

और भगवान बताते हैं कि अब वह साधक न केवल जीवन को चलाने हेतु आवश्यक वस्तुओ के प्रति ममता, अपितु स्वयं के जीवन के प्रति ममता भी छोड़ देता है – वह 'निर्मम' बन जाता है। श्री शंकराचार्य कहते हैं – **देह-जीवन-मात्रे अपि निर्गत-मम-भाव: निर्मम:** – "वह निर्मम हो जाता है अर्थात् देह तथा जीवन के प्रति ममत्व को भी छोड़ देता है।" यह 'मम'ता भी उसे अब विक्षेपकारक लगने लगती है।

तो फिर अब बचा की क्या? अब किस कारण से उसका मन विक्षिप्त होकर प्रभु से विचलित होगा?

किसी कारण से भी नहीं ! इसीलिए भगवान कहते हैं कि अब वह 'शान्त' हो जाता है ! मधुसूदन कहते हैं – **शान्तः चित्तविक्षेपरहितः** – "शान्त ऐसा कि जिसके मन में थोड़ा-सा भी विक्षेप न रह जाय।"

विक्षेपरहित मन का ही अर्थ है एकाग्र मन। करणात्मक तथा अकरणात्मक साधनाओं के फलस्वरूप उसके मन के अनेक अग्रों का विलय होकर वह अब एक-अग्र बन गया है।

और मन के स्वभाव से जिनका थोड़ा-सा भी परिचय है, वे तत्काल ही यह स्वीकार करेंगे कि एकाग्र मन कोई 'निष्क्रिय' या 'जड़ीभूत' मन नहीं होता, बल्कि वह अत्यधिक शक्तिशाली, अत्यधिक गतिशील होता है। झपट्टा मारने को तत्पर रहता है। अन्य सारे अग्र झड़कर अब साधक का मन एकाग्र-ब्रह्माग्र हो चुका होता है, अत: वह पूरी शक्ति के साथ, पूरी गति के साथ, पूरे वेग के साथ, पूरे आवेग के साथ झपट्टा मारकर अब ब्रह्म में, अपने अन्तर्यामी में, स्वयं की सत्ता में, बोध में आनेवाले उस सर्वातीत सर्वगत एकमेवाद्वितीय आनन्दमय, चिन्मय सत्ता में भूतकाल का जरा-सा भी मोह न रखकर डूब जाता है।

समुद्र की सतह पर लहरें सदैव उछलती-उफनती-उमड़ती रहती हैं। लहरों का निरन्तर चढ़ाव-उतार होता रहता है। उस पर तैरनेवाला व्यक्ति जब तक सतह पर है, तब तक कभी वह नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे होता रहता है। पर यदि वह उन लहरों के बाह्य स्पन्दन के जोर को भेदकर भीतर प्रवेश कर सका, तो अतिशीघ्र ही वह समुद्र के अन्त:स्थल में चक्राकार घूमनेवाले अंत:प्रवाह में प्रवेश कर जाता है। फिर लहरों की शक्ति क्षीण होती जाती है और वह उस अन्त:प्रवाह की आकर्षण-शक्ति को छोड़ गहरे तल की ओर जाने लगता है।

साधक के साथ भी ऐसा ही होता है। कर्मनिष्ठा या कर्मयोग से मनोसागर की वृत्ति-लहरों को भेदकर अब वह अन्त:प्रवाह तक पहुँच चुका होता है। अब? अब – सीधे तल की ओर...

भगवान यही बता रहे हैं! वे कहते हैं – **ब्रह्मभूयाय कल्पते** – "ब्रह्म बन जाने में समर्थ हो जाता है।"

* * *

हाँ, अब वह – ब्रह्म बन जाने में समर्थ हो जाता है।

भगवत्पूज्यपाद श्री शंकराचार्य कहते हैं – **ब्रह्मभूयाय ब्रह्म-भवनाय कल्पते समर्थः भवति** – "वह अब ब्रह्म होने के योग्य बनता है।" ज्ञानेश्वर कहते हैं, "वह साधक अब ब्रह्म होने लायक होता है।"

मधुसूदन कहते हैं, **ब्रह्मभूयाय ब्रह्मसाक्षात्काराय कल्पते समर्थो भवति** – "वह अब ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने योग्य बन जाता है।"

अर्थात् क्या हो जाता है?

अपनी सुबोध शैली में श्रीधर कहते हैं – **ब्रह्मभूयाय ब्रह्म अहम् इति नैश्चल्येन अवस्थानाय कल्पते योग्यो भवति** – "मैं नहीं हूँ, हैं तो प्रभु ही हैं, मैं प्रभु से अभिन्न हूँ – वह इस बोध में निश्चल रूप से रह सकने का पात्र बनता है।"

इस उच्च मनोवस्था का और भी स्पष्ट वर्णन करते हुए साधना रहस्यज्ञ श्री शंकरानन्द सरस्वती कहते हैं – **ततः एव शान्तः निरिन्धन-अग्निवत् उपशान्त-अन्तःकरण-सर्वविकारः ततः एव प्रसन्न-अन्तःकरणतया संप्राप्त-याथात्म्य-विज्ञानः ब्रह्मभूयाय ब्रह्मभावाय। ब्रह्मभावो नाम सच्चिदानन्द-एकरस-ब्रह्मात्मना अवस्थानं तस्मै कल्पते ब्रह्माकारेण तिष्ठति इति अर्थः**। अर्थात् – "विक्षेप पैदा करनेवाले सभी कारणों के दूर हो जाने से उस साधक का मन शान्त हो जाता है। ईंधन खत्म होने पर जैसे अग्नि शान्त होती है, वैसे ही उसके अन्त:करण में बसे सभी विकारों का उपराम हो जाता है। अत: उसका अन्त:करण प्रसन्न (अर्थात् निर्मल, स्वच्छ, पारदर्शी) हो जाता है। अत: अब उसे स्वयं के बोध के तल में स्थित उस एकमेवाद्वितीय ब्रह्म का सत्य-स्वरूप और भी स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगता है। और इसी कारण वह स्वयं ब्रह्म ही बनने के योग्य हो जाता है। सारांश, उन एकरस सच्चिदानन्द ब्रह्म से मैं अभिन्न हूँ, ऐसा आनन्दपूर्ण, आनन्दघन बोध उसकी सत्ता में स्फुरित-स्पन्दित होने लगता है।"

ठीक ही तो है। मान लीजिए कि एक पानी की टंकी के तल में एक सूई पड़ी है। उस टंकी का पानी अस्वच्छ है, हवा के कारण उस पर सतत तरंगें उठ रही हैं। ऐसी स्थिति में, तल में सूई होने के बावजूद वह दिखाई नहीं देती और यदि दिख भी गई तो बड़े अस्पष्ट रूप से या आड़ी-टेढ़ी दिखेगी। परन्तु उस पानी को निथारकर स्वच्छ, निर्मल, पारदर्शक बनाया जाए और हवा के झोंके ठहर जाने से तरंगों का बनना बन्द हो जाय, तो वह सूई स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगेगी।

साधक के साथ भी ऐसा ही होता है। चित्तरूपी, अर्थात् हृदय का बोधरूपी जल अविद्याजन्य वासनाओं के कारण दूषित हो चुका है तथा तज्जनित वृत्तियों के कारण सदैव तरंगायित होता रहता है। ज्ञान-भक्ति-कर्मयोग के समन्वयात्मक साधना के फलस्वरूप अर्थात् 'प्रभु, मैं-मेरा नहीं, बल्कि तुम और तुम्हारा ही' – इस ज्ञानबोध से, इस भक्तिभाव के साथ स्वकर्म का आचरण करने से तथा सभी विक्षेपों को शमित करने से वह निथरकर स्वच्छ होता है और उसके ऊपर उठनेवाली तरंगें भी शान्त हो जाती हैं। और उसके बाद उस साधक को बिल्कुल सहजता से स्वयं के चित्त या बोध के तल में वास करनेवाले वह सर्वात्म-स्वरूपी सर्वाधार प्रभु स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगते हैं और उसे स्पष्ट अनुभव होने लगता है – 'मैं और सम्पूर्ण जगत्' स्वरूपत: वही है।

परन्तु!

पानी स्वच्छ-पारदर्शक निस्तरंग होकर टंकी के तल में स्थित सूई 'स्पष्ट दिखना' एक बात है और वह सूई प्राप्त होना दूसरी बात। सूई दिखने का अर्थ सूई मिलना नही है। अत: प्रभु कहते हैं – वह **ब्रह्मभूयाय कल्पते** – ब्रह्म बनने के योग्य बनता है। अर्थात् अभी वह ब्रह्म बना नही है।

ऐसा हो तो भी, वह ब्रह्म न 'हुआ' हो तो भी, 'मै या जगत् नही है, बल्कि प्रभु ही मैं और जगत् हैं' – यह अति तीव्र, उत्कट आनन्दमय अभेदबोध अब उसकी सत्ता मे सतत स्पन्दित स्फुरित हो रहा है, उस आनन्दघन-बोध या ज्ञान में अब वह 'निष्ठ' या 'सुप्रतिष्ठित' हो चुका होता है, अत: उसकी इस अवस्था को 'ज्ञाननिष्ठा' कहा गया है।

* * *

कर्मनिष्ठा के आचरण से जो सिद्धि प्राप्त होती है उसे 'कर्मनिष्ठा-जनित-सिद्धि' या 'ज्ञाननिष्ठा-योग्यता' कहते है।

इस प्रकार कर्मनिष्ठा से ज्ञाननिष्ठा के 'योग्य' बना हुआ वह साधक उपरोक्त साधना-मार्ग पर अग्रसर होते होते अब ज्ञाननिष्ठ बन जाता है।

अर्थात् गीता के अनुसार 'ज्ञान-निष्ठा-योग्यता' रूपी सिद्धि साधना के मार्ग पहिला पड़ाव होने से 'ज्ञाननिष्ठा' उस मार्ग का दूसरा पड़ाव है।

– ६ –

पर यह भी पड़ाव ही हुआ – 'स्थायी बसेरा' नहीं! फिर यह 'ज्ञाननिष्ठ' साधक उस स्थायी बसेरे तक कैसे पहुँचता है? वह किस प्रकार ज्ञानी बनता है? साधक की साधना का मार्ग-क्रमण किस प्रकार, कब और कहाँ समाप्त होकर वह सच्चा 'सिद्ध' बनता है?

इसके बाद, प्रभु अब यही बतानेवाले है।

तदनुसार, साधक-जीवन की वह अत्यन्त सूक्ष्म घटना – जिसके लिए साधक जनम जनम इतना परिश्रम करता है, वह अमृत-क्षण साधक के जीवन मे **बहूनां जन्मनाम् अन्ते** – 'अनेक जन्मा के बाद' कब तथा कैसे उदित होता है, इसी को अब अगले अध्याय में हम प्रभु के शब्दो के आधार पर समझने का प्रयत्न करेंगे।

❖ **(क्रमशः)** ❖